CELEBRATING FIFTY YEARS
(1954-2004)

भारतीय साहित्य के निर्माता

राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द'

वीर भारत तलवार



राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द'

भारतीय साहित्य के निर्माता

राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द'

वीर भारत तलवार

साहित्य अकादेमी

Raja Shivprasad Sitar-e-hind : A monograph in Hindi by Veer Bharat Talwar on Modern Hindi Writer. Sahitya Akademi, New Delhi (2005), Rs.25.

प्रथम संस्करण : 2005

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति', मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44एक्स, डायमंड हार्बर मार्ग, कोलकाता 700 053
172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. आंबेडकर वीथी, बंगलौर 560 001

चेन्नई कार्यालय
मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443 (304), अन्ना सालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-2047-4

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : वैलविश प्रिण्टर्स, दिल्ली-110088

अनुक्रम

दो शब्द

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के व्यक्तित्व और कृतित्व की जानकारी देनेवाले स्रोत बहुत कम हैं। उनकी आत्मकथा *सवानेह उमरी* से भी उनके जीवन की अंदरूनी झलक बहुत कम मिलती है और उनके साहित्यिक कामों का ज़िक्र तो उसमें बिलकुल नहीं है। ऐसे में बहुत थोड़े-से स्रोतों से ही मुझे काम चलाना पड़ा है। अपने अध्ययन में सहयोग के लिए मैं नेशनल लाइब्रेरी, कोलकाता और हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय, प्रयाग के कर्मचारियों का आभारी हूँ। सबसे ज़्यादा आभारी मैं राजा शिवप्रसाद की पाँचवीं पीढ़ी के वंशज कुँवर परमानंद प्रसाद सिंह का हूँ, जिनके पूरे परिवार ने बड़ी आत्मीयता और तत्परता के साथ मुझे अपना सहयोग दिया। इसके लिए उनकी जितनी भी सराहना की जाए, कम ही होगी।

वीर भारत तलवार
1.1.2005

1
जीवन वृत्त

पारिवारिक पृष्ठभूमि

राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' का जन्म बनारस में भाट की गली में संवत 1880, माघ सुदी दूज को हुआ था।[1] माघ सुदी दूज यानी माघ महीने के शुक्ल पक्ष की द्वितीया। पंचांग से पता चलता है कि संवत 1800 यानि 1823 ई. में यह तिथि 3 फ़रवरी की थी और दिन सोमवार था।[2] इस तरह राजा शिवप्रसाद का जन्म सोमवार, 3 फ़रवरी, 1823 ई. को हुआ था।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र सेठ अमीरचंद के घराने में पैदा हुए थे तो शिवप्रसाद जगत सेठ के घराने में। ये दोनों घराने उत्तर-पूर्वी हिन्दुस्तान के सबसे धनी महाजनों में थे, जिनके संबंध पहले मुग़ल शासकों से रहे, फिर अंग्रेज़ शासकों से। जैन धर्मावलंबी शिवप्रसाद ओसवाल जाति के थे, जो वैश्यों में अग्रवालों के बनिस्पत कुछ नीचे समझे जाते हैं। शिवप्रसाद के पुरखे, जिनका गोत्र गोखरू था, मूलतः राजस्थान के थे और जैनी होने से पहले 11वीं सदी में जयपुर राज्य में रणथंभौर में रहते थे । वहीं उन्होंने जैन धर्म अपनाया था। आगे चलकर एक पुरखे अमरदत्तर ने बादशाह शाहजहाँ को एक ऐसा हीरा नज़र किया कि बादशाह ने ख़ुश होकर उन्हें राय यानी राजा की उपाधि दी और अपने साथ दिल्ली ले आए। तब से उस ख़ानदान के वंशज राजा कहलाने लगे। एक बार जब दिल्ली में अकाल पड़ा तो उनके ख़ानदान में हुए राजा फतेहचंद ने प्रजा के लिए गल्ला सस्ता कर दिया, जिससे प्रसन्न होकर मुग़ल बादशाह मुहम्मदशाह ने उन्हे जगतसेठ का ख़िताब दिया। शाहजहाँ से लेकर मुहम्मदशाह तक, बल्कि वजीर आसफुद्दौला तक इस ख़ानदान के सेठ बादशाह के जवाहिरख़ाने की निगरानी का काम करते रहे। भाई-भतीजों और बेटों में कोई बादशाह का मनसबदार रहा तो कोई सूबों के सायर का इजारेदार। जब दिल्ली में नादिरशाह ने क़त्लेआम मचाया और उसमें कुछ लोग इस ख़ानदान के भी मारे गए तो ख़ानदान के एक प्रमुख

1. *सवानेह उमरी.* उर्दू में लिखी राजा शिवप्रसाद की आत्मकथा। यह आत्मकथा बहुत बाद में लखनऊ से प्रकाशित *त्रिपथगा* पत्रिका में धारावाहिक छपी थी।
2. कंप्यूटर के ज़रिए यह गणना कैलेंडर बनानेवाली बनारस की एक कंपनी के द्वारा मैंने करवाई।

सदस्य राजा डालचंद दिल्ली छोड़कर मुर्शिदाबाद आ गए। सूबा बंगाल की राजधानी मुर्शिदाबाद उन दिनों पूर्वी हिन्दुस्तान का सबसे जगमगाता शहर था, जहाँ व्यापार तेज़ी से फल-फूल रहा था। दिल्ली से शिवप्रसाद को कुछ पुरखे पहले से ही मुर्शिदाबाद आ चुके थे। भारतेन्दु के पुरखे भी, जिनका दिल्ली के शाही घराने से घनिष्ठ संबंध था, 1650 के बाद, जब शहज़ादा शुजा बंगाल का सूबेदार बना, दिल्ली से मुर्शिदाबाद आ चुके थे। कहा जाता है कि बंगाल के नवाब क़ासिम अली ख़ाँ के अत्याचारों से रैयत तंग आ चुकी थी। शरीफ़ घरानों में भी हमेशा डर समाया रहता कि नवाब न जाने कब उनके घरों की स्त्रियों को बेइज़्ज़त कर डाले। लिहाजा नवाब के ख़िलाफ़ षड्यंत्र में सहायता करते हुए जगतसेठ क्लाइव से जा मिले। उन्हीं दिनों भारतेन्दु के पुरखे सेठ अमीचंद भी क्लाइव से मिल गए थे। राजनीतिक क्षेत्रों में काफ़ी प्रभावशाली जगतसेठ ने अंग्रेज़ों को रुपए की मदद देकर नवाब पर चढ़ाई करा दी। नवाब को जब असलियत का पता चला तो उसने राजा डालचंद और जगतसेठ महताब राय को पकड़ मँगवाया और क़ैद कर लिया। महताब राय और उनके एक चचेरे भाई को नवाब ने क़त्ल करवा दिया, लेकिन डालचंद चक़मा देकर भाग निकले। शिवप्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उनके परदादा राजा डालचंद बहुत योग्य, बहादुर और विद्वान थे, कई भाषाओं के जानकार थे और उन्होंने किताबें भी बनाई थीं। राजा डालचंद मुर्शिदाबाद से भागकर बनारस आ गए और यहीं बस गए। वे अवध के नवाब के अधीन काम करने लगे। कुछ लोगों का ख़्याल है कि बनारस की दालमंडी (या डालमंडी) राजा डालचंद ने बसाई होगी। पर इसका कोई सबूत देखने में नहीं आया। राजा डालचंद के बेटे उत्तमचंद का ब्याह नवाब आसफ़ुद्दौला के ख़जांची राजा बछराज की बेटी से हुआ। उत्तमचंद ने बनारस के ठठेरी बाजार में एक जैन मंदिर बनवाया। कोई बेटा न होने की वजह से उन्होंने अपनी बहन रतन कुँवरी के बेटे गोपीचंद को गोद ले लिया। इन्हीं गोपीचंद के बेटे शिवप्रसाद थे।

राजा डालचंद

↓ ↓

राजा उत्तम चंद — बीबी रतन कुँवरी

↓

राजा गोपीचंद (रतन कुँवरी के पुत्र, जिन्हें उत्तमचंद ने गोद लिया)

राजा शिवप्रसाद

↓

गोपीचंद के सभी लड़के मर जाते थे, इसलिए वे रोज़ नंगे पाँव बनारस के औसानगंज

मुहल्ले में जागेश्वर महादेव का मंदिर में मन्नत माँगने जाते थे। शिवजी के प्रताप से जब एक बेटा ज़िन्दा रहा तो उसका नाम शिवप्रसाद रखा गया। ज़ाहिर है, इस जैनधर्मी परिवार का हिन्दूकरण काफ़ी हद तक हो चुका था। महादेव का स्तोत्र शिवप्रसाद को बचपन से ही सिखलाया गया और हर सोमवार को (सोमवार को जन्म होने के कारण) उन्हें जागेश्वर महादेव के दर्शनों को भेजा जाता।

शिक्षा

शिवप्रसाद के घर में पढ़ने-लिखने का माहौल शुरू से ही रहा। उनकी दोनों बहनें हिन्दी पढ़ी हुई थीं। घर में बहनें *रामचरितमानस* और *सूरसागर* ऊँचे स्वर में पढ़तीं तो बालक शिवप्रसाद कान देकर सुनते। शिवप्रसाद की दादी बीबी रतन कुँवरी, जो दरअसल उनके पिता की माँ नहीं, बल्कि बुआ थीं, न सिर्फ़ पढ़ी-लिखी थीं, बल्कि कविता भी करती थीं। कहते हैं कि उन्होंने *प्रेमरतन* नाम से कृष्णभक्ति का एक काव्य लिखा था। बाद में यह काव्य किताब की शक्ल में छपा, जिसे लंदन के किसी पुस्तकालय में एक अमरीकी विद्वान रॉन डॉनेल्ड ने देखा है।[1] शिवप्रसाद की परवरिश इन्हीं दादी साहिबा की छत्रछाया में हुई, जो उनके घर के पास ही एक अलग मकान में अपने नियम-क़ायदों के साथ रहती थीं। वे संस्कृत और फ़ारसी, दोनों भाषाएँ अच्छी तरह जानती थीं और संगीत में भी निपुण थीं। शास्त्रों की चर्चा शिवप्रसाद ने अपने लड़कपन में उन्हीं से सुनी। माँ-बाप ने शिवप्रसाद को बचपन से सभ्यता के तौर-तरीक़े , वक़्त की पाबंदी और काम करने के सलीक़े कड़ाई से सिखलाए। इस ढंग से लालन-पालन होने के दो महत्त्वपूर्ण नतीजे निकले। एक तो बड़े होने पर उन्हें अंग्रेज़ों की सभ्यता ने, उनकी कार्य निपुणता और अनुशासनप्रियता ने बहुत आकर्षित किया। दूसरे, ख़ुद अपने जीवन में ज़िम्मेदारियों का समय पर सलीक़े से निर्वाह करने की आदत पड़ी।

पाँच साल से शुरू होकर सत्रह साल की उम्र तक शिवप्रसाद की शिक्षा चलती रही। हिन्दी-उर्दू के अलावा वे संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी का अध्ययन करते रहे। सरकारी स्कूल के अलावा वे बनारस के संस्कृत कॉलेज (बाद में क्वींस कॉलेज) में भी पढ़े। बचपन में मियाँजी से करीमा पढ़ा। सरकारी स्कूल में मुंशी काशीनाथ जी कश्मीरी से फ़ारसी पढ़ी और घर में बाबू शिवशंकर सिंह आकर कुछ अंग्रेज़ी पढ़ा जाते थे। लेकिन ढंग की अंग्रेज़ी उन्होंने अपने घर के पास रहने वाले बाबू तारिणीचरण मित्र के बेटे तारामोहन मित्र से सीखी। तारिणीचरण मित्र पहले कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में जौन बी.गिलक्राइस्ट के सहायक और कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी के एक सेक्रेटरी भी थे।

1. यह जानकारी मुझे शिवप्रसाद की पाँचवीं पीढ़ी के कुँवर परमानंद प्रसाद से मिली।

वहाँ से रिटायर होने के बाद वे बनारस आकर बस गए। उनके बेटे तारामोहन मित्र शिवप्रसाद के दोस्त और उम्र में उनसे कुछ ही बड़े थे। आगे चलकर जब *बनारस अख़बार* निकला तो उसकी अरबी-फ़ारसी मिश्रित हिन्दी के विरोध में तारामोहन मित्र ने *सुधाकर* पत्र निकालकर हिन्दी का शुद्ध रूप दिखाने का प्रयत्न किया। बनारस में खोए की मिठाइयाँ खाने का रिवाज बहुत रहा है। स्कूल में फ़ारसी के उस्ताद काशीनाथ कश्मीरी ने एक बार अपने शागिर्दों को खोआ शब्द का अर्थ बतलाया—दूध को बहुत खौलाने से उसके सभी गुण खो जाते हैं, तभी उसे खोआ कहते हैं। इस बात ने बालक शिवप्रसाद पर असर डाला। लिहाजा उन्होंने बचपन से ही खोआ खाना छोड़ दिया, जिससे ताउम्र उनका शरीर दुरुस्त रहा और वे बहुत-सी बीमारियों से बचे रहे।

अपने बचपन की तीन घटनाएँ शिवप्रसाद को जीवन भर याद रहीं। उनके पिता राजा गोपीचंद की मशहूर इतिहासकार जेम्स प्रिंसेप से बड़ी दोस्ती थी। प्रिंसेप उन दिनों बनारस में सरकारी टकसाल के सुपरिटेंडेंट थे। जब आग से चलनेवाली मोटरबोट पहली बार गंगा में चली तो प्रिंसेप के साथ गोपीचंद अपने बेटे शिवप्रसाद को मोटरबोट दिखाने के लिए मणिकर्णिका घाट पर ले गए। वहाँ पहली बार उन्होंने विज्ञान के एक नए आविष्कार को देखा। वैसे तो बड़े होकर शिवप्रसाद ने अपनी नौकरी के सिलसिले में कई प्रांतों की यात्राएँ की, लेकिन बचपन में जैसे भारतेन्दु ने अपने परिवारवालों के साथ काशी से जगन्नाथपुरी तक यात्रा की थी, वैसे ही शिवप्रसाद ने और भी कम उम्र में अपने परिवारवालों के साथ बनारस से दिल्ली तक की यात्रा की थी। तब शिवप्रसाद सात साल के थे। उन दिनों रेल नहीं चली थी। सड़कें भी सभी पक्की नहीं थीं। पिता और परिवार के दूसरे सदस्यों के साथ शिवप्रसाद ने बनारस से दिल्ली तक की यात्रा कच्ची सड़क पर बैलगाड़ी से पूरी की। रास्ते में पिता ने आगरे की मशहूर इमारतें दिखलाईं और मथुरा-वृंदावन के दर्शन कराए। नौ साल की उम्र में शिवप्रसाद का ब्याह अकबराबाद में लाला जौहरीसिंह की बेटी बीबी चंदन कुँवर के साथ कर दिया गया। बेटे का ब्याह कर देने के बाद पिता गोपीचंद भारमुक्त हो गए तो एक बार फिर मुर्शिदाबाद जाने के लिए बनारस से कलकत्ते को रवाना हुए। वहाँ पहुँचकर उन्हें पेचिश हो गई। उसी हालत में वे कलकत्ते से मुर्शिदाबाद को चल पड़े। रास्ते में ही नाव में उनकी मृत्यु हो गई। तब शिवप्रसाद सिर्फ ग्यारह साल के थे। इस तरह पिता का साया शिवप्रसाद के सिर से बचपन में ही उठ गया।

नौकरियाँ

किसी के ज़रिए शिवप्रसाद की तारीफ़ सुनकर एक ख़ास परेशानी से घिरे भरतपुर के महाराजा बलवंत सिंह ने नौकरी देने के लिए शिवप्रसाद को भरतपुर बुलाया और यात्रा के

लिए पाँच सौ रुपए भी भिजवाए। यह बात 1841 की है, जब शिवप्रसाद 17 साल के थे। पालकी में बैठकर सात दिन की यात्रा के बाद शिवप्रसाद भरतपुर पहुँचे। वहाँ महाराजा बलवंत सिंह अपने कायस्थ दीवान से बहुत परेशान थे। दीवान ने अपने कई लोगों को राज्य के विभिन्न पदों पर बैठा रखा था और उनकी मदद से महाराजा को तरह-तरह के डर दिखाकर, धमकियाँ देकर, अपनी मनमानी चला रहा था। शिवप्रसाद ने गवर्नर जनरल के एजेण्ट कर्नल सदरलैण्ड से इस बाबत क़ानूनी जानकारी हासिल करके महाराजा को अपने दीवान से छुटकारा दिला दिया। महाराजा ने दीवान और उसके आदमियों को जेल में डाल दिया और ख़ुश होकर शिवप्रसाद को अपनी रियासत का वकील मुक़र्रर कर अजमेर में तैनात कर दिया। राजस्थान में रहते हुए शिवप्रसाद ने देशी नरेशों की बदमिज़ाजी, बेवक़ूफ़ियों, झूठे घमंड और प्रजा पर उनके अत्याचारों को खुली आँखों से देखा। अपनी आत्मक़था में उन्होंने इन राजाओं की हँसी उड़ाते हुए उनकी असलियत बताई हैं। उन्होंने जयपुर के एक महाराजा जगत सिंह का वर्णन किया है, जिसने शराब के नशे में अपना आधा इलाक़ा रसकपुर नामक एक रंडी के नाम लिख दिया। एक बार भरतपुर से बनारस लौटते हुए शिवप्रसाद कानपुर में बिठूर के बाजीराव पेशवा से मिलने गए। उनके महल में दीवार पर बीस-पच्चीस घड़ियों को टँगे देखा, जिनकी सुइयाँ एक ही समय में अलग-अलग वक़्त दिखा रही थीं। पूछने पर मालूम हुआ कि ये घड़ियाँ वक़्त जानने के लिए नहीं, बाजा सुनने के लिए लगाई गई हैं।

दंभी राजाओं के मूर्खतापूर्ण क्रिया-कलापों से शिवप्रसाद को अरुचि हो गई। तीन साल बाद उन्होंने भरतपुर की नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और बनारस वापस आ गए। क़रीब एक साल तक घर पर ही रहे। 1845 के आख़िर में दूसरी बार नौकरी की खोज में निकले और सहारनपुर पहुँच गए। वहाँ उनकी मुलाक़ात डेविडसन से हुई, जो पहले बनारस में मजिस्ट्रेट थे। उसी समय वहाँ भारत सरकार के विदेश विभाग के सचिव विलियम एडवर्ड्स भी आ गए, जो गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग के लश्कर में शामिल होने के लिए पटियाला जा रहे थे। उन दिनों पंजाब में सिक्ख राज्य के अंदर सत्ता के लिए षड्यंत्र और आपसी मार-काट चल रही थी। सितंबर, 1845 में जब महारानी जिंदन के भाई जवाहर सिंह की भी शाही फ़ौज के पंचों द्वारा हत्या कर दी गई, तो महारानी और उनके समर्थकों ने अंग्रेज़ों से संपर्क क़ायम करके उनसे महाराजा के ख़िलाफ़ मदद माँगी। जम्मू का राजा गुलाब सिंह सिक्ख राज्य के ख़िलाफ़ पहले ही अंग्रेज़ों से मिल चुका था, क्योंकि उसके कुछ इलाक़ों पर सिक्खों ने क़ब्ज़ा कर रखा था। इन सबका फ़ायदा उठाते हुए लॉर्ड हार्डिंग के नेतृत्त्व में अंग्रेज़ी फ़ौज ने सिक्ख राज्य की घेरेबंदी शुरू कर दी थी। पहली लड़ाई मुदकी में हुई, लिहाजा यह युद्ध मुदकी की लड़ाई नाम से मशहूर हुआ। एडवर्ड्स ने शिवप्रसाद को लड़ाई में शामिल होने का न्यौता दिया तो शिवप्रसाद

फ़ौरन राजी हो गए। शिवप्रसाद को युद्ध में खुफ़िया विभाग का काम सौंपा गया। सर हेनरी लारेंस ने एडवर्ड्स से कहा कि अगर कोई सिक्खों की फ़ौज में जाकर उनकी तोपें गिन आता, तो बड़ा काम निकलता। एडवर्ड्स ने यह काम शिवप्रसाद को सौंपा। शिवप्रसाद अपना भेष बदलकर, एक सिक्ख मुसाफ़िर के रूप में इस साहसिक अभियान में निकल पड़े और अपना काम सफलतापूर्वक कर के लौट आए।

मुदकी की लड़ाई में सिक्ख महाराजा दलीप सिंह की हार हुई। अंग्रेज़ों से संधि करते हुए दलीप सिंह को बहुत बड़ी रक़म और सोने-चाँदी के अलावा अपने कई इलाक़े भी अंग्रेज़ों के हवाले करने पड़े। इस पूरी लड़ाई के दौरान शिवप्रसाद विदेश सचिव के मातहत खुफ़िया विभाग की नौकरी में थे। इस हैसियत से शिवप्रसाद अंग्रेज़ फौजियों और हाक़िमों के निकट संपर्क में आए। उन्हें युद्ध में अंग्रेज़ों के पक्ष की काफ़ी अंदरूनी जानकारी भी हासिल हुई। अपनी आत्मकथा में उन्होंने बतलाया कि इस लड़ाई में सिक्ख राज्य के कई प्रभावशाली सदस्यों के अलावा कश्मीर के महाराजा गुलाब सिंह भी अंग्रेज़ों से मिले हुए थे।

लड़ाई में जीत हासिल करने के बाद गवर्नर जनरल का लश्कर जब समझौते के लिए राजधानी लाहौर में दाख़िल हुआ तो शिवप्रसाद उनके साथ थे। इस लश्कर में प्रशा का राजकुमार प्रिंस वाल्डमेर भी शामिल था, जिसे अपनी माँ की बीमारी की ख़बर पाकर अब जल्द ही बंबई लौटना था, ताकि वह वहाँ से अपने देश लौट सके। उसे वापस पहुँचाने के लिए शिवप्रसाद को कुछ रास्ते तक उनके साथ भेजा गया। अंग्रेज़ों के साथ रहते हुए भी शिवप्रसाद भोजन उनके साथ नहीं करते थे। वे अलग से किसी हिन्दू के हाथ का बना निरामिष भोजन ही करते। रास्ते में चित्तौड़ का क़िला पड़ा तो उसे प्रशा के राजकुमार को दिखलाते हुए शिवप्रसाद की अपनी मुस्लिम विरोधी भावनाओं का ज्वार उमड़ पड़ा। उन्हें याद आया कि इस क़िले में न जाने कितनी राजपूत रानियाँ मुसलमानों से बचने के लिए जल मरी थीं और उनकी हड्डियाँ अब तक वहाँ पड़ी हुई हैं। 1567 में अकबर के हमले के समय तीस हज़ार राजपूत वहाँ मारे गए थे। प्रशा के राजकुमार को इंदौर तक पहुँचाकर जब शिवप्रसाद विदा होने लगे तो राजकुमार ने उनकी कर्त्तव्यपरायणता और शिष्टाचार से प्रभावित होकर उन्हें बहुत-सा ईनाम देना चाहा, जिसे सरकारी मुलाज़िम होने के नाते शिवप्रसाद ने क़बूल करना वाजिब नहीं समझा। फिर भी, उनकी दी हुई एक दुशाला को इज़्ज़त की निशानी समझकर उन्होंने क़बूल किया और ताउम्र सँभाल कर रखा।

पंजाब के महाराजा के सुलह हो जाने के बाद गर्वनर जनरल शिमला गए तो शिवप्रसाद भी उनके साथ गए। वहाँ सर हेनरी इलियट पहाड़ी रियासतों के समूह शिमला एजेंसी के नए चीफ़ सेक्रेटरी नियुक्त हुए थे। इलियट विद्वान और पढ़ने-लिखने वाले व्यक्ति थे। वे कई भाषाओं के जानकार थे और भारत का इतिहास लिखने के लिए सामग्री इकट्ठी कर रहे थे। वे बहुत मेहनती थे और हर वक़्त इतिहास संबंधी किताबों की खोज में लगे रहते।

शिवप्रसाद को विदेश विभाग से मुक्त करके इलियट के दफ़्तर में नौकरी दे दी गई। उन्हें दिन-रात इलियट के लिए इतिहास संबंधी सामग्री का अनुवाद करते रहना पड़ता। जब गवर्नर जनरल कलकत्ते लौटने लगे तो उनके साथ हेनरी इलियट का तबादला भी कलकत्ते के लिए हो गया। शिवप्रसाद की कर्मठता से प्रभावित इलियट ने शिवप्रसाद को भी अपने साथ कलकत्ते ले जाना चाहा। लेकिन विदेश विभाग को छोड़कर शिमला एजेंसी के नए सुपरिंटेंडेंट बने विलियम एड्वर्ड्स ने शिवप्रसाद को अपने मातहत शिमला में ही रखना चाहा। दोनों शिवप्रसाद की कर्तव्यनिष्ठा, परिश्रम और वफ़ादारी से प्रभावित थे। आख़िरकार इलियट और एडवर्ड्स ने मामला आपस में तय कर लिया और शिवप्रसाद शिमला में रह गए। एडवर्ड्स ने शिवप्रसाद को शिमला एजेंसी का मीर मुंशी (हेड क्लर्क) बनाया।

शिवप्रसाद दफ़्तर का काम मुस्तैदी से सँभालते और हर वक़्त ख़्याल रखते कि काम करने की संस्कृति में वे कर्मठ और अनुशासनप्रिय अंग्रेज़ों के सामने कहीं से भी पिछड़े हुए या कम निपुण साबित न हों। शिमला में ही शिवप्रसाद ने जीवन में पहली बार बर्फ़ गिरती देखी, जब ज़मीन, जंगल, पहाड़, सब सफ़ेद बर्फ़ की मोटी तह से ढँक गए थे। इस बीच वाइसराय लार्ड हार्डिंग रिटायर होकर इंग्लैंड लौट गए और उनकी जगह लार्ड डलहौजी नए गवर्नर जनरल बनकर शिमला आए। एक बार वे शिमला से कालका तक बन रही नई सड़क का मुआयना करने निकले। साथ में एडवर्ड्स और शिवप्रसाद भी थे। दस बजे तक वे एक डाक बंगले में पहुँचे तो वहाँ कोई नहीं मिला। काम करके जा चुके कुलियों को वापस बुलाने का हुक्म दिया गया और गवर्नर जनरल अंदर कमरे में आराम फ़रमाने लगे। शिवप्रसाद बाहर बरामदे में पड़े एक तख़्त पर लेटकर अपने साथ लाई एक किताब *मेयोज फ़िज़ियोलॉजी* पढ़ने लगे। किताब पढ़ने में वे इस क़दर मशगूल हो गए कि उन्हें पता ही नहीं चला कि कब लार्ड डलहौजी यूँ ही टहलते हुए उनके सिरहाने आकर चुपचाप खड़े हो गए और उन्हें देख रहे थे। डलहौजी को इस बात पर सुखद आश्चर्य हुआ कि उनके मातहत काम करनेवाला यह हिन्दुस्तानी थका-माँदा और भूखा-प्यासा होने पर भी किस क़दर किताब पढ़ने में डूबा हुआ है! यह देखकर डलहौजी प्रभावित हुए और कलकत्ता लौटने के बाद उन्होंने दो ज़िल्द किताबों की अपने हाथ से शिवप्रसाद के नाम भेंट करके एक चिट्ठी के साथ बतौर तोहफ़ा उन्हें भिजवा दीं।

1845 से 1852 तक, कुल सात बरस तक शिवप्रसाद ने शिमला में नौकरी की । शिमला ऐसी ख़ूबसूरत जगह है कि जो भी वहाँ अपने जीवन के कुछ बरस बिताता है, फिर वह उसे भूल नहीं पाता। शिमला में बिताए इन सात सालों को शिवप्रसाद अपने जीवन का सबसे बेहतरीन हिस्सा मानते थे। वे कहते थे कि अगर मुझे अपनी उम्र का कोई हिस्सा दुबारा जीने को मिले तो मैं इन्हीं सात बरसों को फिर जीना चाहूँगा, बशर्ते विलियम एडवर्ड्स और डलहौजी समेत सब कुछ वैसा ही मिले।

फिर बनारस में

1852 में एडवर्ड्स दो साल की लंबी छुट्टी लेकर इंग्लैड चले गए तो शिवप्रसाद ने अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और बनारस लौट आए, जहाँ उनकी माँ की तबीयत अक्सर ख़राब रहने लगी थी। बनारस लौटकर क़रीब दो साल तक शिवप्रसाद ने कोई नौकरी नहीं की। फिर बड़े अंग्रेज़ हाक़िमों के आग्रह से उन्होंने पहले बनारस के मीर मुंशी का पद सँभाला और उसके बाद शिक्षा विभाग में नौकरी क़बूल कर ली। 1855 में वे बनारस सर्किल के इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स मुक़र्रर हुए। तनख़्वाह पाँच सौ रुपए महीना। कुछ साल बाद इलाहाबाद का सर्किल भी उनके कार्य क्षेत्र में जोड़ दिया गया और तनख़्वाह बढ़ाकर एक हज़ार रुपए महीना कर दी गई।

बनारस में नौकरी करते हुए अभी दो साल ही गुज़रे थे कि 1857 का विद्रोह शुरू हो गया। उन दिनों शिवप्रसाद बनारस में ही थे। उन्हें अंग्रेज़ों को विद्रोहियों से बचाने की चिन्ता हुई। विद्रोहियों से बचाने के लिए अंग्रेज़ों की जितनी मदद सैयद अहमद ने अपनी जान पर खेलकर की थी या जितनी भारतेन्दु के पिता ने की या राजा लक्ष्मण सिंह ने की अथवा अंग्रेज़ी ढंग का नावेल लिखनेवाले श्रीनिवास दास के मालिकों ने की—उतनी मदद करने का मौक़ा शिवप्रसाद को नहीं मिला। जो थोड़ी-सी मदद करने का मौक़ा उन्हें मिला, वह यूँ था। 4 जून, 1857 की शाम को परेड की ओर से तोपें चलने की आवाज़ आई। शिवप्रसाद को आशंका हुई और वे तुरंत तैयार होकर बनारस के कमिश्नर हेनरी कार्टकर की कोठी की ओर चल पड़े जो नंदेसर कोठी से आगे थी। बनारस की टकसाल इसी नंदेसर कोठी में थी। विद्रोहियों से बचने के लिए अंगरेज परिवारों ने इसी कोठी में पनाह ले रखी थी। वहाँ कार्टकर और उनकी पत्नी भी मौजूद थी। कार्टकर ने शिवप्रसाद को अलग ले जाकर बतलाया कि कलकत्ते से हर रोज़ तीस-चालीस गोरों की एक डाक-बैलगाड़ी बनारस होते हुए कानपुर को जाती है। वह डाकगाड़ी शाम को इसी वक़्त बनारस पहुँचती है। डर है कि बनारस में डाकगाड़ी की हिफ़ाजत करनेवाले देसी सिपाही उन्हें बहलाकर कहीं और न ले जाएँ। लिहाज़ा कार्टकर चाहते थे कि शिवप्रसाद फ़ौरन राजघाट की तरफ चले जाएँ और डाकगाड़ी को अपनी हिफ़ाजत में यहाँ ले आएँ। शिवप्रसाद ने ऐसा ही किया। टकसाल के अंदर जमा अंगरेज परिवारों के पास खाने-पीने का समान ज़्यादा न था। अगर बाग़ियों ने टकसाल को घेर लिया तो रसद कैसे पहुँचेगी ? लिहाजा उस वक़्त हलवाइयों से जो कुछ भी मिल सकता था, शिवप्रसाद ने वह सब लेकर बँहगियों पर टकसाल पहुँचा दिया।

1857 का विद्रोह ख़त्म हो जाने के बात पश्चिमोत्तर प्रांत में एक अफ़वाह उड़ी कि अब अंग्रेज सब कुछ छोड़कर अपने वतन चले जाएँगे। इस अफ़वाह के चलते सरकार से

लोगों का विश्वास डगमगाने लगा और राजस्व में घाटा होने लगा। ज़मींदारों ने मालगुज़ारी वक़्त पर चुकाने में ढील कर दी। सरकार ने अपनी साख जमाने के लिए कई उपाय किए। एक उपाय परती ज़मीन की बिक्री का था। गोरखपुर के कलक्टर मि. बर्ड ने शिवप्रसाद से कहा कि सरकार ढाई रुपए प्रति एकड़ के हिसाब से जंगलवाली ज़मीन बेचना चाहती है, लिहाज़ा शिवप्रसाद एक हज़ार एकड़ खरीद लें। इससे प्रजा के बीच यह संदेश जाएगा कि शिवप्रसाद बेवकूफ़ नहीं है। अगर वह क़ीमत देकर सरकार से ज़मीन ख़रीद रहा है तो ज़रूर अंग्रेज़ी शासन अभी बरक़रार रहनेवाला है। हाकिम का आग्रह मानकर शिवप्रसाद ने ज़मीन के लिए दरख़्वास्त दे दी। उनके चार मित्रों ने भी दरख़्वास्त दी—बनारस के सदरे आला बाबू श्यामाचरन, डिप्टी कलक्टर प्यारे मोहन, डिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स पं. ठाकुर दत्त और बनारस के बड़े सेठ बाबू गोविन्द दास। ख़रीदी हुई वह ज़मीन शिवप्रसाद के वंशजों के पास आज भी है, हालाँकि वक़्त के साथ वह काफ़ी कट-बँट चुकी है, उस पर से जंगल भी ख़त्म हो गया है और अब उसमें खेती होती है।

अपनी नौकरी के आख़िरी दो सालों में शिवप्रसाद आगरा कमिश्नरी और झाँसी कमिश्नरी के भी इंस्पेक्टर मुक़र्रर हुए। इस तरह उनके अधिकार क्षेत्र में बनारस, इलाहाबाद, आगरा और झाँसी के सर्किल—सब एक साथ शामिल हो गए। शिक्षा के प्रबंध में इतना बड़ा अधिकार क्षेत्र सरकार ने शायद ही किसी दूसरे अधिकारी को सौंपा हो। 1878 में, पचपन बरस की उम्र में नौकरी से रिटायर होते समय शिवप्रसाद ने पेंशन के लिए सरकार को दरख़्वास्त दी। लेफ़्टिनेंट गवर्नर जॉर्ज कूपर ने उन्हें बतलाया कि शिक्षा के क्षेत्र में उनके कामों को देखते हुए शिक्षा विभाग के डायरेक्टर उन्हें आम पेंशन नहीं, बल्कि ख़ास पेंशन दिलाना चाहते हैं। लेकिन उसकी रक़म इतनी बड़ी है कि उसकी मंज़ूरी देना लेफ़्टिनेंट गवर्नर के इख़्तियार में नहीं है। उसके लिए इंगलैंड से मंज़ूरी लेनी होगी। शिवप्रसाद ने उनसे कहा कि आप मेरी पेंशन का मामला इंगलैंड के बखेड़े में न डालें। जितना आपके इख़्तियार में हो, उतनी ही दे दें। 1878 में शिवप्रसाद नौकरी से रिटायर हुए और 17 बरस तक पेंशन पर चलते रहे। 23 मई 1895 में बनारस में ही उनकी मृत्यु हो गई।

शिक्षा विभाग में उनकी उपलब्धियों को और सरकार के प्रति उनकी वफ़ादारी को देखते हुए सरकार ने 20 मार्च, 1874 में उन्हें 'सितारेहिन्द' की उपाधि दी। 16 फ़रवरी, 1887 में उन्हें उनके ख़ानदानी राजा होने की मान्यता मिली। 1880 में वायसराय ने उन्हें अपनी इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल का सदस्य मनोनीत किया। 1882 में उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय के और 1888 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सिनेट में फ़ेलो नियुक्त किया गया।

उत्तराधिकारी और संपत्ति

राजा शिवप्रसाद के दो बेटे हुए—शुचित प्रसाद और आनंद प्रसाद। आज शिवप्रसाद की पाँचवी पीढ़ी के वंशज बनारस में मौजूद हैं और छठीं पीढ़ी के सदस्य जवान हो चले हैं। ये लोग बनारस में मैदागिन में नागरीप्रचारिणी सभा के बहुत क़रीब कंपनी बाग़ (अब भारतेन्दु हरिश्चंद्र उद्यान) के ठीक पीछे बारादरी में रहते हैं। शिवप्रसाद का पुश्तैनी मकान तो भुतही इमली में भाट की गली में था, जो नागरीप्रचारिणी सभा के सामने टाउन हॉल के पीछे बना है। वह मकान अब भी वहाँ मौजूद है, हालाँकि इसमें कोई रहता नहीं। बस, एक सर्वोदय प्रेस इसमें चलता है। भाट की गली में किनारे का सबसे पहला, लाल ईंटों से बना भारी-भरकम यह मकान एक छोटा-मोटा महल ही था, जिसमें छोटे-बड़े कुल चालीस कमरे और पानी के लिए तीन कुएँ हैं। इसके पास ही एक राधाकृष्ण का मंदिर है, जिसे मुर्शिदाबाद में रहते हुए जगतसेठ ने बनवाया था। शिवप्रसाद के वंशज अब भी इस मंदिर से ट्रस्टी होते हैं। 1951 तक शिवप्रसाद के वंशज भुतही इमलीवाले मक़ान में रहे। उसके बाद इसे यूँ ही ख़ाली छोड़ दिया गया, पर बेचा नहीं गया।

- राजा शिवप्रसाद
  - शुचित प्रसाद
  - आनंद प्रसाद
    - राजा नित्यानंद
    - राजा सत्यानंद
      - राजा प्रियानंद
        - कुँवर परमानंद
      - कुँवर कृष्णानंद
    - कुँवर चिदानंद

राजा शिवप्रसाद ने अपने जीवनकाल में एक दो मंजिली बारादरी बनवाई थी, जो आज भी नागरीप्रचारिणी सभा से कुछ ही दूर कंपनी बाग़ के ठीक पीछे है। बारादरी का अहाता तो काफी बड़ा था, पर इमारत ज्यादा लंबी-चौड़ी न थी। एक बड़ा ड्राइंग रूम नीचे, उसके इर्द-गिर्द दो कमरे। ठीक इसी तरह ऊपर के तल्ले पर भी। लाल ईंटोंवाली यह इमारत आज भी बहुत ख़ूबसूरत दिखती है। सामने हरी घास का लान जिस पर संगमरमर

का फ़व्वारा। बाग़ में झूला। पुराने रईसों की तरह शिवप्रसाद अपने मित्रों और मिलनेवालों के साथ यहाँ शाम को बैठा करते। 1951 में शिवप्रसाद के वंशज भुतही इमली वाला मकान छोड़कर बारादरी के अहाते के अंदर ही एक नया मकान बनवाकर रहने लगे। 1972-73 में शिवप्रसाद की बनाई बारादरी की छत गिर पड़ी जिससे कमरों में रखी हुई सजावट की पुरानी ख़ूबसूरत चीज़ें बर्बाद हो गईं, पर शिवप्रसाद की एक बड़ी पुरानी तस्वीर अब भी वहाँ दीवार पर टँगी हुई है।

जिस तरह की बारादरी शिवप्रसाद ने बनारस में कंपनी बाग़ के पीछे बनवाई, हू-ब-हू वैसी ही एक इमारत उन्होंने गोरखपुर में बेतियाहाता में भी बनवाई, जो वहाँ पत्थर कोठी के नाम से मशहूर हुई। वह कोठी अब गिर चुकी है।

ब्रिटिश शासन जब किसी को 'राजा' की उपाधि देता था तो साथ में कुछ ऐसा भी ज़रूर देता था, जिससे उसके द्वारा माने गए राजा का जीवन-निर्वाह अच्छी तरह होता रहे। राजा की उपाधि के साथ शिवप्रसाद को एक हज़ार एकड़ ज़मीन दी गई जो अब महाराज गंज ज़िले के चरगाह गाँव में हैं। शिवप्रसाद को ज़मींदारी करना नापसंद था। लिहाज़ा उन्होंने ज़मीन को लगान पर नहीं उठाया। आगे उनके वंशज इस पर खेती करने लगे। 1947 के बाद इस ज़मीन का आधा हिस्सा हदबंदी में चला गया। बाक़ी आधी ज़मीन परिवार के विभिन्न सदस्यों के नाम पर बची हुई है, जिस पर खेती होती हैं। जो ज़मीन उन्हें सरकार ने 1857 के बाद बेची थी, वह आज ज़िला ग़ोरखपुर के बछौना मौजा में है। यह इलाक़ा उनके दोनों बेटों के नाम से दो गाँवों में बँट गया—गाँव शुचितपुर और गाँव आनंदपुर। जब शिवप्रसाद ने उसे ख़रीदा था, तब यहाँ सिर्फ़ जंगल था, जिसे कई बरसों तक ठेके पर दिया जाता रहा। इन ज़मीनों के अलावा काशी नरेश ईश्वरीनारायण सिंह ने अपने जन्मदिन के मौक़े पर शिवप्रसाद को चार गाँव ज़मींदारी के रूप में भेंट किए जो बनारस के मड़ुआडीह में डी.एल.डब्ल्यू और महमूदगंज से 8-10 किलोमीटर आगे पड़ते हैं। चार गाँव उन्हें महाराजा बेतिया (दरभंगा, विहार) ने भी भेंट किए थे जो मौज़ा बोदरवार, ज़िला गोरखपुर में आज भी हैं। (ये सूचनाएँ मुझे उनकी पाँचवी पीढ़ी के वंशज कुंवर परमानंद प्रसाद से मिली हैं।)

2

शिक्षाविद् के रूप में

शिक्षा के क्षेत्र में शिवप्रसाद का काम 1850 में शुरू हुआ, जब विलियम एडवर्ड्स शिमला एजेंसी के सुपरिंटेंडेंट थे और शिवप्रसाद उनके मीर मुंशी बने। उन दिनों नौकरी में कार्यक्षेत्र की बहुत कड़ाई से कोई निश्चित सीमा नहीं होती थी। एडवर्ड्स के कहने पर शिवप्रसाद ने पहला एंग्लो-वर्नाकुलर स्कूल शिमला में खोला और उसी के साथ छात्रों के रहने के लिए एक बोर्डिंग भी क़ायम किया। इस प्रयत्न की सफलता के बाद शिवप्रसाद ने शिमला रियासत में क्योंथल और बाघल में लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग स्कूल खोले। क्योंथल में पुनार नामक जगह में स्थानीय आबादी सारी दुनिया से अलग-थलग, अत्यंत पिछड़ी हुई हालत में रहती थी। वहाँ लोग गिनती तक करना नहीं जानते थे। पहली बार जब शिवप्रसाद ने उन्हें पढ़ाने के लिए वहाँ स्कूल खोलने की योजना बनाई तो एडवर्ड्स को छोड़कर किसी ने भी उनकी योजना को गंभीरता से नहीं लिया। लेकिन शिवप्रसाद ने स्कूल खोला। अपने शिक्षा संबंधी प्रयत्नों के दौरान शिमला में ही शिवप्रसाद ने पहली बार स्कूली पाठ्यक्रम की दो किताबें तैयार कीं। ये दो किताबें *विद्यांकुर* और *भूगोलहस्तामलक* का प्रारंभिक और छोटा रूप थीं, जो चैम्बर की *रूडिमेण्टस ऑफ़ नॉलेज* और *इंट्रोडक्शन टू दी साइंस* के शुरू के हिस्सों को आधार बनाकर लिखी गई थी।[1] पश्चिमोत्तर प्रांत के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर मि. थांपसन जब शिमला आए तो शिवप्रसाद की लिखी इन किताबों की और उनके द्वारा देहाती इलाक़ों में क़ायम की गई शिक्षा संस्थाओं को देखकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने शिक्षा विभाग के निदेशक मि. एच.एस.रीड को—जो प्रयोग के तौर पर मुरादाबाद में स्कूल खोलना चाहते थे—शिमला आकर शिवप्रसाद के शिक्षा संबंधी कामों को देखने के लिए कहा। रीड शिमला आए और शिवप्रसाद के शिक्षा संबंधी कामों को देखने के बाद उसकी सराहना करते हुए उन्होंने मि. कॉल्विन से शिवप्रसाद को पश्चिमोत्तर प्रांत में इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स बनाने के लिए कहा। उस समय पश्चिमोत्तर प्रांत में आधुनिक विषयों में शिक्षा देने के लिए स्कूल खोलने की योजना अभी बन ही रही थी। शिमला से बनारस लौटने के दो साल

1. *विद्यांकुर*, 1876 के संस्करण की भूमिका

बाद 1855 में शिवप्रसाद ने शिक्षा विभाग की ज़िम्मेदारी सँभाली और जीवन के बाईस साल शिक्षा विभाग में गुज़ारे। 1882 में हंटर कमीशन के सामने गवाही देते हुए शिवप्रसाद ने बतालाया कि 1854 में चार्ल्स वुड ने शिक्षा संबंधी जो मशहूर डिस्पैच तैयार किया था, वह बहुत—कुछ विलियम एडवर्ड्स द्वारा सरकार को सौंपी गई जन शिक्षा संबंधी एक योजना पर आधारित था और यह योजना वास्तव में एडवर्ड्स ने शिमला एजेंसी में शिवप्रसाद के ही शिक्षा संबंधी कामों के आधार पर तैयार की थी।[1]

1850 के दशक में जब पश्चिमोत्तर प्रांत में पहली बार आधुनिक शिक्षा प्रणाली शुरू की गई तो उसे क़ायम करने और सफल बनाने के लिए सिर्फ़ प्रशासनिक ढाँचा काफ़ी नहीं था। उसकी सफलता के लिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी चीज़ थी व्यक्तिगत पहल, उत्साह और ज़िम्मेदारी की भावना। युवा शिवप्रसाद ठीक इन्हीं गुणों के कारण प्रांत के दूर-दराज के देहाती इलाक़ों में भी शिक्षा का प्रबंध करने में क़ामयाब हो सके। एक इंस्पेक्टर की हैसियत से वे साल के किसी भी मौसम में अपने लाव-लश्कर के साथ स्कूलों का निरीक्षण करने के लिए निकल पड़ते—कहीं ऊँट पर सवार होकर, कभी घोड़े की पीठ पर तो कभी पालकी में। काम के दौरान उन्होंने कभी किसी ख़तरे की परवाह नहीं की। 1857 का विद्रोह अभी ख़त्म ही हुआ था, जब वे गोरखपुर ज़िले की देवरिया तहसील मे अपने लश्कर के साथ गाँव-गाँव होते हुए जा रहे थे कि तहसीलदार के पास ख़बर इस रूप में पहुँची कि बाग़ियों का एक जत्था आज रात गदर मचाने आ रहा है। इसी तरह वे कानपुर के पास एक रात पालकी में सोते हुए जा रहे थे कि कहार रास्ता भटककर गोरी फ़ौज के एक कैम्प में पहुँच गए। फ़ौजियों ने बाग़ी समझकर पालकी ज़मीन पर उतरवा ली। शोर-गुल सुनकर शिवप्रसाद ने आँखे खोलीं और बाहर झाँका तो बंदूक़ ताने गोरे सिपाही पालकी को घेरे खड़े थे। तब अंग्रेज़ी में बोलकर अपना परिचय देने के बाद ही वे वहाँ से सुरक्षित निकल सके। भारी बरसात और अँधेरी रातों में भी वे बीहड़ इलाक़ों की यात्राएँ करते रहे। घोड़े पर बैठे उनके सहयोगी कंबल ओढ़े, बरसात में भींगते हुए भी उनका साथ देते रहे। शिवप्रसाद अपने इन सहयोगियों को कभी भूल नहीं पाए। उनके निरीक्षण वाले स्कूलों के छात्रों से ख़ुद लेफ़्टिनेंट गवर्नर और कभी-कभी वायसराय तक ने सवाल पूछे और संतोषप्रद जबाब देने के लिए छात्रों की सराहना की—हालाँकि सवाल भी मामूली ही होते थे। 19वीं सदी के ख़त्म होते-होते शिक्षा विभाग के अधिकारियों और इंस्पेक्टरों में ऐसा उत्साह मिलना आमतौर पर बंद हो गया, लेकिन शुरुआती दौर में व्यक्तिगत पहल और ज़िम्मेदारी की ऐसी उत्साहपूर्ण भावना के बिना पश्चिमोत्तर प्रांत में एक नई शिक्षा प्रणाली की बुनियाद डालना मुश्किल था।

---

1. हंटर कमीशन की रिपोर्ट. एवीडेंस, पृ. 313

अगर हम पश्मिोत्तर प्रांत की तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखें तो इस प्रांत में सार्वजनिक शिक्षा की एक नई प्रणाली क़ायम करने के रास्ते में जो सामाजिक, सांस्कृतिक और दूसरी रुकावटें थी, उनका अंदाज़ लगाया जा सकता है। मुग़लों के सामंती शासन में आम आदमी को शिक्षा देने की न कोई प्रणाली थी, न इसकी जरूरत समझी जाती थी। उस ज़माने में सिर्फ़ आभिजात्य वर्ग के लोग ही शिक्षा हासिल कर पाते थे और वह शिक्षा भी मुख्यत: धार्मिक क़िस्म की होती थी, इतिहास, भूगोल या पदार्थ विज्ञान जैसे आधुनिक विषयों की नहीं। कारीगरी या हुनर सीखने का कोई विद्यालय नहीं होता था। ये पेशे अक्सर ख़ानदानी होते थे या अपने ख़ास शार्गिदों को सिखाए जाते थे। अंग्रेज़ी शासन के तहत राजा राममोहन राय की कोशिशों से आधुनिक विषयों में जनशिक्षा देने की प्रणाली पहली बार बंगाल में क़ायम हुई। उसी का सिलसिला 30-35 बरस बाद पश्चिमोत्तर प्रांत में भी पहुँचा। ऐसी शिक्षा यहाँ किस भाषा के माध्यम से दी जाए? उसमें पाठ्यपुस्तकें कौन बनाए और कैसे बनाए? इन बुनियादी सवालों से भी पहले एक महत्त्वपूर्ण सवाल उन सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का था, जिनके तहत जन-साधारण को यह शिक्षा दी जानी थी। 1855-56 के आस पास, जब राजा शिवप्रसाद ने मदरसे खोलने और चलाने का काम शुरू किया, ये परिस्थितियाँ काफ़ी कठिन और प्रतिकूल थीं। शिवप्रसाद ने महसूस किया कि पश्चिमोत्तर प्रांत में, शहरों में और ख़ासकर देहाती इलाक़ों में, ग़रीबी और जातिप्रथा जनशिक्षा के रास्ते की दो सबसे बड़ी रुकावटें हैं। ग़रीबी के कारण ज़्यादातर बच्चे पढ़ नहीं सकते थे। पढ़नेवाली उम्र में बच्चे खेती में पकी फ़सल को पक्षियों से बचाने के लिए दिन भर खड़े होकर या दौड़ते हुए उन पक्षियों को उड़ाते रहते, वे घर में ईधन जुटाने के वास्ते घूम-घूम कर गोबर जमा करते, मवेशियों को चराने के लिए जंगल ले जाते या फिर दिनभर घास काटकर मवेशियों के लिए चारा जुटाते। इन ज़रूरी घरेलू कामों को छोड़कर वे पढ़ने के लिए स्कूल कैसे जाते? जिन संपन्न घरों के बच्चों को ये काम नहीं करने पड़ते, उन्हीं की पहुँच स्कूल तक हो सकती थी। इन बच्चों को भी स्कूल भेजने के लिए जब इनके माँ बाप से कहा जाता तो जबाव मिलता कि शाम को स्कूल से लौटते समय, ख़ासकर सर्दियों में, रास्ते में भेड़ियों का डर है, लिहाज़ा बच्चों को कैसे भेजें? संपन्न परिवारों के सामने एक बड़ी दिक़्क़त जातिप्रथा की थी। शिवप्रसाद ने इस दिक़्क़त का बयान करते हुए हंटर कमीशन को एक कहावत बतलाई—नौ पूरबी, दस चूल्हे। बोर्डिंग में रहने वाले छोटे-छोटे बच्चे ख़ुद ख़ाना कैसे पकाते? सभी माँ-बाप अपने बच्चों के लिए साथ में रसोइया भेज नहीं सकते थे। ऐसी हालत में उनके लिए खाना कौन पकाता? फिर बोर्डिंग में ईसाई बच्चे भी रहते। उनके साथ अपने बच्चों को हिन्दू कैसे रखते? अपने बच्चों से उनका प्यार कुछ ऐसा था कि उन्हें अपने बच्चों को अनपढ़ रखना

गँवारा था, पर अपनी आँखों से दूर रखना गँवारा न था। शिवप्रसाद ने हंटर कमीशन को बतलाया कि बच्चों का शिक्षा हासिल करना निर्भर करता उनकी ग़रीबी की हद पर। ग़रीबी की हद निर्भर करती थी आजीविका के साधनों पर और आजीविका के साधन जुड़े हुए थे जातिप्रथा से। यही वजह है कि उस ज़माने में अहीर, कहार, कुनबी, कच्छी, कोइरी, कुम्हार, तेली, धोबी, गोंड़, बढ़ई, धुनिया और जुलाहा जैसी ग़रीब और दबाई हुई जातियों के बच्चे शिक्षा नहीं पा सके।

1856 में स्कूल इंस्पेक्टर की हैसियत से शिवप्रसाद को बनारस डिवीजन में शिक्षा का प्रबंध करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गई तो इस काम को करने के लिए उन्होंने सरकार से मार्गदर्शन माँगा। जवाब आया कि अपना रास्ता ख़ुद ढूँढ़ो। हल्काबंदी स्कूल खोलने के वास्ते धन की ज़रूरत पड़ी तो जवाब मिला कि धन नहीं है। ख़ुद जुटाओ। आख़िरकार शिवप्रसाद को अपना रास्ता ख़ुद उसी तरह ढूँढ़ना पड़ा, जिस तरह बनारस में अपने छोटे बच्चों को तैरना सिखाने के लिए माँ-बाप उनकी कमर से कनस्तर या ख़ाली डिब्बे बाँधकर उन्हें गंगा में छोड़ देते हैं और वे तैरना ख़ुद ब ख़ुद सीख जाते हैं। शिवप्रसाद ने हंटर कमीशन को बतलाया कि बनारस सर्किल में शिक्षा का प्रबंध करने के लिए उन्होंने ज़िले के भूस्वामियों से अपने कुल राजस्व का 1/2 प्रतिशत शिक्षा के लिए ख़र्च में देने को कहा। इसकी शुरुआत बनारस के महाराज से की। महाराजा ने उन्हें ख़ुशी से आधा प्रतिशत राजस्व देकर दूसरे भूस्वामियों के सामने मिसाल खड़ी कर दी। बनारस सर्किल के छह ज़िलों के उन सभी भूस्वामियों ने, जिनसे सरकार ने स्थायी बंदोबस्त कर रखा था, महाराजा के नक़्शेक़दम पर चलते हुए हल्काबंदी स्कूलों को खोलने में अपना योगदान किया। इस तरीक़े से शिवप्रसाद ने हर साल पचास हज़ार रुपए जमा किए, जिनसे क़रीब एक हज़ार हल्काबंदी स्कूल खोले गए। इन स्कूलों में तीस हज़ार से भी ज़्यादा बच्चे शिक्षा पाने लगे। शिक्षा के लिए रक़म जमा करने का यह तरीक़ा तब तक चलता रहा, जब तक कि देहातों में स्कूल खोलने और चलाने के लिए सरकार ने भूस्वामियों से क़ानूनन टैक्स लेना वाला सेस एक्ट बनाकर लागू नहीं कर दिया। सरकार ने बनारस के महाराजा को इस एक्ट से मुक्त रखा था। इसके बावजूद महाराजा ने पुराने तरीक़े पर चलते हुए शिक्षा के लिए अपना योगदान जारी रखा, जिससे शिवप्रसाद पचास स्कूल अलग से चलाते रहे।[1]

अब सरकार ने सभी भूस्वामियों से उनके राजस्व का दस प्रतिशत सेस के रूप में लेना शुरू कर दिया था। यह सेस प्रजा की शिक्षा, सफ़ाई और डाक-तार की व्यवस्था करने के लिए लिया जाता। इसमें से शिक्षा पर वास्तव में सिर्फ़ एक प्रतिशत खर्च किया जाता। शिक्षा के लिए धन की ज़रूरत पड़ने पर बहुत आग्रह करने से सरकार कभी-कभी इस

---

1. हंटर कमीशन, एवीडेंस, पृ. 315

रक़म को दुगुना भी कर देती थी। लेकिन इंस्पेक्टर रहते हुए शिवप्रसाद ने सरकार से रकम को और बढ़ाने की माँग कभी नहीं की। हंटर कमीशन को उन्होंने बताया कि पश्चिमोत्तर प्रांत में शिक्षा के लिए असली ज़रूरत धन की नहीं, छात्रों की थी। स्कूल खोलने के लिए धन इकट्ठा करने का शिवप्रसाद का अपना ढंग था। जैसे साठ मील के किसी देहाती इलाक़े में अगर उन्हें एक स्कूल खोलना होता, जहाँ प्रति शिक्षक 5 रुपए महीना तनख़्वाह देनी पड़ती, तो सबसे पहले वे उस क्षेत्र के गाँवों के प्रभावशाली लोगों से मिलते। किसी गाँव के लोग उनसे कहते कि यह स्कूल हमारे गाँव में खोलिए। दूसरे गाँव के लोग कहते कि हमारे यहाँ खोलिए। शिवप्रसाद दोनों से कहते कि अगर आप सचमुच अपने गाँव में स्कूल खुलवाना चाहते हैं तो अपने गाँव के स्कूल का आधा ख़र्च आप दीजिए। अगर लोग इस ख़र्च को मंजूर कर लेते तो शिवप्रसाद उस साठ मील के इलाक़े में एक दो बजाय दो स्कूल खोलते। हल्काबंदी स्कूलों में शिवप्रसाद शिक्षक को प्रतिमाह 5 रुपए तनख़्वाह देते थे। इस तनख़्वाह पर उन्हें आसानी से शिक्षक मिल जाते क्योंकि गाँवों में द्विज जातियों के लोग महीने की बँधी-बँधाई तनख़्वाह को अपनी आमदनी बढ़ाने का अच्छा जरिया समझते। लेकिन जब इलाक़े में एक के बजाय दो स्कूल खोलने होते तो शिवप्रसाद शिक्षक को अपनी ओर से आधी तनख़्वाह देते और बाक़ी आधी के लिए गाँव के किसानों से दूध, घी, तेल और अनाज वग़ैरह की शक्ल में ले लेने की इजाज़त दे देते। उन्होंने हंटर कमीशन को बतलाया कि उनके खोले स्कूल कभी भी रुपए के अभाव में बंद नहीं हुए। स्कूल जब भी बंद हुए, छात्रों के अभाव में बंद हुए।

स्कूलों में शिवप्रसाद छात्रों से फ़ीस लेने की सरकारी प्रणाली और ढाँचे से सहमत नहीं थे। उनका विचार था कि प्रांत के स्कूलों में लागू फ़ीस की प्रणाली ब्रिटिश सभ्यता की देन है, जो हिन्दुस्तानी समाज के लिए असुविधाजनक और अजनबी है। सरकारी फ़ीस प्रणाली के तहत किसी क्लास में जितने लड़के होते, उसी हिसाब से उस क्लास की फ़ीस तय होती, जो क्लास के सभी विद्यार्थियों को समान रूप से देनी पड़ती। शिवप्रसाद के मुताबिक़ यह प्रणाली न तो न्यायपूर्ण थी, न भारतीय परंपरा से मेल खाती थी। भारतीय परंपरा में फ़ीस की मात्रा सभी विद्यार्थियों के लिए एक समान नहीं होती थी। वह उसके देनेवाले की सामर्थ्य पर निर्भर करती थी या फिर हेडमास्टर उनकी हैसियत को देखकर उनके लिए अलग-अलग तय कर देता था। शिवप्रसाद का विचार था कि अमीर बच्चों को ज्यादा फ़ीस देनी चाहिए और ग़रीब बच्चों से कम फ़ीस लेनी चाहिए। भारतीय समाज के लिए यह एक स्वाभाविक-सा लगनेवाला विचार था। उन्होंने हंटर कमीशन को बतलाया कि फ़ीस की चालू सरकारी प्रणाली से हो यह रहा है कि जो दस रुपए तक फ़ीस दे सकते हैं, वे इस समय सिर्फ़ एक ही रुपया देकर छूट जाते हैं और जिनकी सामर्थ्य एक रुपए से ज्यादा फ़ीस देने की नहीं है, उनसे स्कूल ही छूटा जा रहा है। इसके अलावा हिंदुस्तान के

देहाती इलाक़ों में शिक्षा के लिए विद्यार्थियों द्वारा फ़ीस की जगह अनाज वग़ैरह देने की परंपरा बहुत पुराने समय से रही है। शिवप्रसाद इसके ख़िलाफ़ नहीं थे और मदरसों में मुदर्रिसों को उनकी तनख़्वाह का एक हिस्सा अनाज वग़ैरह की शक्ल में देने के समर्थक थे, ताकि देहातियों को ज़्यादा बोझ न महसूस हो। यह प्रथा देसी परिस्थितियों से मेल खाती थी। शिवप्रसाद ने हंटर कमीशन के सामने ऊँची क्लासों के लिए ज़्यादा फ़ीस वसूलने की प्रणाली का भी विरोध किया और इसे दुर्भाग्यपूर्ण बतलाया। इससे ग़रीब परिवार के मेधावी छात्र जब ऊँची क्लासों में पहुँचते हैं तो वहाँ फ़ीस की दर ऊँची होने के कारण वे अक्सर अपनी पढ़ाई छोड़ने को मजबूर होते हैं। अमीरों के बच्चों को फ़ीस की ऊँची दर से कोई परेशानी नहीं होती, जबकि फिसड्डी होने के कारण वे ऊँची क्लासों तक कम ही पहुँच पाते थे। शिवप्रसाद की ये धारणाएँ शिक्षा संबंधी उनके लंबे जीवन अनुभवों से बनी थीं। शिवप्रसाद ने कुछ स्कूल-कॉलेजों पर सरकार द्वारा होनेवाली फ़िज़ूलख़र्ची की भी आलोचना की। आगरा कॉलेज के बंद होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण उन्होंने सरकारी फ़िज़ूलख़र्ची को माना। इलाहाबाद में सेंट्रल म्योर कॉलेज की आलीशान इमारत और उस पर की गई नक़्क़ाशी तथा पच्चीकारी को भी उन्होंने फ़िज़ूलख़र्ची का नमूना बतलाया।

हालाँकि शिवप्रसाद ख़ुद शिक्षक नहीं थे, स्कूल इंस्पेक्टर थे, लेकिन अपने खोले हुए और अपने निरीक्षणवाले स्कूलों के कुछ छात्रों के साथ उनके संबंध वैसे ही स्नेहपूर्ण थे, जैसे पढ़ानेवाले शिक्षक के होते हैं। उन्होंने मेधावी और ज़रूरतमंद छात्रों की मदद की। जिन छात्रों की उन्होंने मदद की, उनमें से कुछ काफ़ी ऊँचे पदों तक पहुँचे। करछाना तहसील के एक स्कूल में उन्हें छज्जूमल खत्री नाम का एक लड़का मिला, जिसके बुद्धिमत्तापूर्ण जवाबों को सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि वग़ैरह का पता लगवाया और उसके पिता को, जो तहसील में नौकर थे, बुलाकर लड़के को आगे पढ़ने के वास्ते इलाहाबाद ज़िला स्कूल में भेजने के लिए कहा। जब पिता ने ग़रीबी की वजह से ऐसा करने में अपनी असमर्थता जाहिर की तो शिवप्रसाद ने ख़ुद उस लड़के के लिए कहीं से छात्रवृत्ति का इंतजाम किया और आगे की पढ़ाई के लिए उसे ज़िला स्कूल में भेजा। समय के साथ उस लड़के ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा पास की और फिर बनारस कॉलेज में प्रोफ़ेसर के पद पर रहकर पढ़ाया। बाद में वह पश्चिमोत्तर प्रांत के हाईकोर्ट में अनुवादक के पद पर बहाल हुआ। इसी तरह जौनपुर ज़िला के सिंघरा हल्काबंदी स्कूल में पढ़नेवाले एक लड़के काली प्रसाद की उन्होंने मदद की। आगे पढ़ने के लिए उसका बनारस कॉलेज में दाख़िला करवा दिया। काली प्रसाद आगे चलकर लखनऊ की अदालत में एक बड़ा भारी वकील बनकर उभरा और इलाहाबाद कायस्थ पाठशाला के लिए उसने उस ज़माने में दस हज़ार रुपए की एकमुश्त रक़म दान में दी।

उनसे मदद और स्नेह पानेवाले छात्र भी उन्हें याद रखते थे। इसका एक उदाहरण 1882 में उन्हें अचानक मिला एक पत्र है। पत्र के लेखक ने उन्हें जीवन में हुई अपनी उन्नति का विवरण देते हुए एक बार फिर से उनका दर्शन करने की इच्छा प्रकट की और याद दिलाया कि जब 1851 में उन्होंने शिमला में एक छोटा-सा स्कूल खोला था, तब वह वहाँ पर उनका छात्र था।

3

पाठ्यपुस्तकों की रचना

पश्चिमोत्तर प्रांत की शिक्षा व्यवस्था में राजा शिवप्रसाद एक युगप्रवर्तक व्यक्ति थे। वे उस ज़माने में हुए थे, जब एक ही आदमी को पीर, भिश्ती, बावर्ची, सब बनना पड़ता था। राजा शिवप्रसाद ने उन्नीसवीं सदी के पश्चिमोत्तर प्रांत में न सिर्फ़ हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया और प्रांत के विभिन्न इलाक़ों में सैकड़ों स्कूल खोले, बल्कि इन स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पहली पाठ्यपुस्तकों को भी तैयार किया। उन किताबों की भाषा का स्वरूप क्या हो, इसे भी तय किया। हिन्दी माध्यम के अलावा उर्दू माध्यम से पढ़ाई जानेवाली किताबें भी उन्होंने तैयार कीं। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद भी उन्होंने ख़ुद किया। उनकी बनाई दर्जनों पाठ्यपुस्तकों में से तीन किताबें बहुत मशहूर हुईं— *भूगोलहस्तामलक, विद्यांकुर* और *इतिहासतिमिरनाशक*।

भूगोलहस्तामलक किताब की योजना उन्होंने दो खंडों में बनाई थी, लेकिन वे इसका पहला खंड ही लिख पाए। पहला खंड चार सौ पृष्ठों का था, जो तीन जिल्दों में छपा। इसका दूसरा संस्करण—जो उपलब्ध है—1859 में कलकत्ते के संस्कृत प्रेस से छपा। हिन्दी में यह भूगोल की सबसे पहली पाठ्यपुस्तक थी, जिसके ऊपर एक दिलचस्प पंक्ति लिखी मिलती है—मस्त बैठकर सैर मुल्क की करनी, यह तमाशा किताब में देखा।

'उपोद्‌घात' शीर्षक से किताब की भूमिका में शिवप्रसाद ने लिखा—''प्रकट हो कि जब हमने इस ग्रंथ को आरंभ करने के लिए लेखनी उठाई तो मन का यह संकल्प था कि एक छोटी-सी पुस्तक ऐसी रचें, जिससे बालकों को यह सारा भूगोल हस्तामलक हो जाए, पर होते-होते विस्तार बहुत बढ़ गया, चार सौ पृष्ठ की इतनी बड़ी पुस्तक में भी पूरा न पड़ा और केवल एशिया का वर्णन होने पाया। यदि शरीर वर्तमान है और ईश्वरेच्छा अनुकूल, तो दूसरा भाग भी शीघ्र ही बनकर छप जाएगा और फरिंगस्तान, अफ़रीका, अमरिका और टापुओं का, जो शेष रह गए हैं, उसमें वर्णन होगा।'' हालाँकि शिवप्रसाद ने यह किताब पाठ्यपुस्तक के रूप में लिखी थी, लेकिन किताब की भाषा इतनी सरल, प्रवाहपूर्ण और विषय की प्रस्तुति का ढंग इतना दिलचस्प था कि शिवप्रसाद का यह दावा सही लगता है कि अगर स्कूली बालकों के अलावा जवान और वूढ़े भी उस किताब को

पढ़ेंगे तो उन्हें अपना श्रम व्यर्थ नहीं लगेगा। ''जो राजा-महाराजा तथा व्यापारी हिन्दी छोड़कर दूसरी भाषा नहीं जानते और जिनकी उम्र भी अब ऐसी नहीं रही कि पाठशाला में जाकर अंग्रेज़ी या फ़ारसी सीखें, उन्हें भी यह ग्रंथ बहुत काम का लगेगा।''

किताब के पहले खंड में फैली विषय सामग्री के अंतर्गत प्रस्तावना में भूगोल विषय का महत्त्व बतलाया गया। बिना किसी सहारे के पृथ्वी के टिके रहने की बात कही गई और इस बारे में हिन्दू पुराणों में जो कथाएँ आई हैं, उनको निराधार ठहराया। पृथ्वी पर जल, ज़मीन और मनुष्यों के उद्‌भव की चर्चा करने के बाद एशिया महादेश का वर्णन किया—एशिया का क्षेत्र, आबादी, भाषाएँ, जलवायु, धर्म, देश, सरकारें, वग़ैरह। हिन्दुस्तान खंड के अंतर्गत इसके नाम के इतिहास का जिक्र किया गया। इसके पहाड़, नदियाँ, नहरें, झीलें, फल-फूल, पशु, खनिज, जलवायु, धर्म, विज्ञान और साहित्य, भाषाएँ, व्यापार, सेना, आमदनी और प्राकृतिक एवं राजनीतिक विभागों के वर्णन के बाद पहले की और वर्तमान शासन प्रणाली की तुलना भी की गई। इसके बाद पश्चिमोत्तर प्रांत का वर्णन और अंत में नेपाल, कश्मीर, सिक्किम, भूटान, पहाड़ी रियासतो और देशी रियासतों का वर्णन। ग्यारह नक़्शों की सूची भी दी गई, जिनमें एशिया के नक़्शे के अलावा चीन, जापान, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, अरब आदि के नक़्शे दिए गए। अंत में अनुक्रमणिका दी गई, जो आज भी बहुतेरी किताबों में नहीं मिलती है। भूमिका में बता दिया गया कि अनुक्रमणिका के क्या फ़ायदे हैं और इसे किस तरह देखा जाता है।

विद्यांकुर प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों की मिली-जुली किताब है। इसमें जीव विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, पदार्थ विज्ञान, नागरिक शास्त्र और राजनीति शास्त्र, सभी का वर्णन मिलता है। उर्दू में यह *हकाइकुल मौजूदात* के नाम से मदरसों में चलती थी। किताब में स्कूली बच्चों को समझाने के लिए कई चित्र भी दिए गए, जैसे गैंडे का चित्र, ह्वेल मछली और थर्मामीटर का चित्र। किताब शिक्षक और छात्रों के बीच होनेवाले वार्तालाप या प्रश्नोत्तर के रूप में रोचक ढंग से लिखी गई। पहले अध्याय 'पैदाइश की शुरुआत' गैंडे के चित्र के साथ इस तरह होती है—

''एक उस्ताद किसी मदरसे में बैठा हुआ लड़कों को पढ़ा रहा था। वहाँ कोई आदमी गैंडा लिए आ निकला। उस जंगली जानवर को देखकर लड़कों ने अपने जी में बड़ा अचरज माना और उस्ताद से पूछा कि यह क्या है? हमने तो पहले ऐसा कभी नहीं देखा?

''उस्ताद—उस पैदा करनेवाले की पैदाइश का कब अंत पा सकते हैं। दुनिया में अनेक अचरज भरे पड़े हैं। जब लिखना-पढ़ना सीखोगे और खोज में रहोगे, तुम भी इसका कुछ-कुछ भेद जान सकोगे।

''शागिर्द—जनाब हम चाहते हैं कि आपके मुँह से इस पैदाइश का कुछ भेद सुनें।

''उस्ताद— इस सारी पैदाइश का......।''

शिवप्रसाद की लिखी पाठ्य पुस्तकों में सबसे मशहूर *इतिहासतिमिरनाशक* हुई। उन्नीसवीं सदी में *चंद्रकांता* के बाद यह सबसे ज्यादा पढ़ी जानेवाली हिन्दी किताब थी। विडंबना देखिए कि हिन्दी की सबसे लोकप्रिय इन्हीं दो किताबों पर हिन्दी विरोधी उर्दूपरस्ती का इल्ज़ाम लगाया गया। *इतिहासतिमिरनाशक* तीन खंडों में हैं। पहले खंड में 'हिन्दू और मुसलमानी' काल की रूपरेखा दी गई। 'हिन्दूकाल' तो अत्यंत संक्षिप्त है, 'मुसलमानी' काल के शासकों का वर्णन कुछ विस्तार से है। दूसरे खंड में 1858 तक भारत में ब्रिटिश राज के पाँव जमाने का इतिहास लिखा गया है। इसी में उन्होंने 1857 के विद्रोह पर भी लिखा, जिसके वे ख़ुद एक चश्मदीद गवाह थे। तीसरे खंड में, ''सरस्वती नदी के तट पर सोमरस का पान करनेवाले पूर्वजों के ज़माने से लेकर अब तक की प्रथाओं और तौर-तरीक़ों में आए बदलावों, धर्म और क़ानून में आई क्रांति को दिखलाया गया है।''

इस किताब में एक ओर मुस्लिम शासकों के अत्याचारों का काफ़ी उत्तेजक वर्णन किया गया, दूसरी ओर भारतीय इतिहास में उनके किसी भी तरह के सकारात्मक योगदान को ख़ारिज कर दिया गया। इसमें प्राचीन हिन्दू संस्थाओं की भी आलोचना की गई और प्राचीन आर्य सभ्यता के ऊपर पड़े भव्यता के लबादे को उतार दिया गया। लिहाज़ा इस किताब को पाठ्यक्रम से हटाने के लिए मुसलमानों ने आवाज़ उठाई और हिन्दुओं ने भी। किताब के विरोधियों की नज़र से यह बात छुपी नहीं रही कि शिवप्रसाद मुस्लिम, हिन्दू और सिक्ख शासकों की तो काफ़ी आलोचना करते हैं और कई बार उन्हें भगोड़ा, कायर और हास्यास्पद दिखलाते हैं, लेकिन अंग्रेज़ों की वे सिर्फ़ प्रशंसा करते हैं। इतिहास लेखन के दृष्टि से बहुत मौलिक नहीं होने पर भी इस किताब की दो विशेषताएँ थीं, जो इसे आधुनिक इतिहास लेखन से जोड़ती थीं। पहली यह कि इसमें इतिहास लेखन को धार्मिक विश्वासों और पौराणिक कथाओं से अलगाया गया और उसे उपलब्ध ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक प्रमाणों पर खड़ा करने के सिद्धांत पर जोर दिया गया। दूसरी यह कि हिन्दी का यह पहला महत्त्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ था, जो हालाँकि मौलिकता का दावा नहीं करता था, फिर भी इसमें उस समय के महत्त्वपूर्ण यूरोपीय इतिहास लेखकों की कुछ तथ्यगत भूलों को दुरुस्त किया गया। पहले खंड की भूमिका में शिवप्रसाद ने लिखा—''जब मैंने देहाती स्कूलों के लिए हिन्दी और उर्दू में हिन्दोस्तान का एक छोटा-सा इतिहास तैयार करने का वादा किया, तब मुझे इस काम की मुश्किलों का अंदाज़ा नहीं था। मैं यह तो जानता था कि देशी भाषाओं में अभी तक लिखे गए तथाकथित इतिहास ग्रंथ कितने अधूरे और ग़लतियों से भरे हुए हैं, लेकिन मुझे इसका गुमान नहीं था कि एलीफिन्स्टन जैसा सजग लेखक भी ऐसी ग़लतियाँ कर सकता है।'' शिवप्रसाद ने एलीफ़िन्स्टन के अलावा मार्शमैन की ग़लतियों को भी

दुरुस्त किया, हालाँकि इन्हीं इतिहासकारों से उन्होंने ज़्यादातर सामग्री भी ली थी, ख़ासकर एलीफ़िन्स्टन से। शिवप्रसाद ने फ़ारसी ग्रंथों से भी सहायता ली, ख़ासकर 17वीं सदी के मशहूर इतिहासकार फ़रिश्ता के फ़ारसी ग्रंथ से। चूँकि किताब जल्दी तैयार करनी थी और बनारस में फ़ारसी ग्रंथ आसानी से नहीं मिलते थे, लिहाज़ा शिवप्रसाद को कुछ एक फ़ारसी ग्रंथों से ही संतोष करना पड़ा। *इतिहासतिमिरनाशक* पर सबसे ज़्यादा असर हेनरी इलियट द्वारा संकलित-संपादित मशहूर ग्रंथ *दी बिबलियोग्रॉफ़िकल इंडेक्स टू दी हिस्टोरियन्स ऑफ़ मोहम्मडन इंडिया* का पड़ा, जो 1849 में प्रकाशित हो चुका था। शिवप्रसाद ने इलियट के मातहत काम किया था और उनसे प्रभावित थे। इलियट ने मुस्लिम विद्वानों द्वारा मध्यकालीन इतिहास पर लिखे गए ग्रंथों में से बहुत-सी सामग्री इस तरह संकलित की थी कि उनको एक जगह जमा करने से मध्यकालीन मुस्लिम शासन के सिर्फ़ काले पक्ष ही सामने आ सकें। मुस्लिम शासन के सिर्फ़ नकारात्मक पक्षों को सामने लाने का उद्देश्य भारत में मुग़ल शासन को उखाड़कर अंग्रेज़ी शासन क़ायम करने की ज़रूरत और उसकी श्रेष्ठता को साबित करना था। *इतिहासतिमिरनाशक* में शिवप्रसाद ने इलियट की इस इतिहास दृष्टि को आगे बढ़ाया था।

शिवप्रसाद स्पष्ट रूप से मुस्लिम विरोधी थे और उन्हीं की तरह उनके बॉस पश्चिमोत्तर प्रांत में शिक्षा विभाग के डायरेक्टर थॉमस कैम्पसन भी मुस्लिम विरोधी थे। दोनों इलियट की इतिहासदृष्टि से सहमत थे। कैम्पसन ने ख़ुद *इतिहासतिमिरनाशक* का ब्लर्ब लिखा और उसमें शिवप्रसाद की योग्यता की तारीफ़ की। बड़ी तत्परता से उन्होंने किताब को स्कूली पाठ्यक्रम में लगा दिया। शिवप्रसाद ने *आइना ए तारीख़नुमा* शीर्षक से किताब का उर्दू संस्करण तैयार किया तो कैम्पसन ने उसे भी उर्दू माध्यम से पढ़नेवाले बच्चों के पाठ्यक्रम में लगा दिया। इतना ही नहीं, कैम्पसन ने ख़ुद किताब के पहले खंड का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया (दूसरे खंड का अंग्रेज़ी अनुवाद पं. भवानी दत्त जोशी ने किया जो 1875 में छपा) और उसे भी पाठ्यक्रम में रखवा दिया, बावजूद इसके कि अंग्रेज़ी में मार्शमैन की लिखी इतिहास पुस्तक पाठयक्रम में पहले से ही पढ़ाई जा रही थी।

शिवप्रसाद की बनाई ये तीनों पाठ्यपुस्तकें भाषा के लिहाज़ से बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। *भूगोलहस्तामलक* और *इतिहासतिमिरनाशक* दोनों की भूमिका में शिवप्रसाद ने लिखा कि उन्होंने इसमें भाषा *बैताल पच्चीसी* की चाल पर रखी है। *बैताल पच्चीसी* का ब्रजभाषा से खड़ी बोली में अनुवाद फ़ोर्ट विलियम कालेज में लल्लूलाल ने मज़हर अली ख़ाँ विला और क़ासिम अली ख़ाँ की मदद से किया था। नेशनल लाइब्रेरी, कोलकाता, में यह किताब मिल जाती है। उसकी भूमिका में किताब की भाषा उर्दू बताई गई है। उसका गद्य बहुत जीवंत और रोज़मर्रे की बोलचाल की ज़ुबान में है। डॉ. रामविलास शर्मा ने *बैताल पच्चीसी* की भाषा का उद्धरण देते हुए उसकी काफ़ी सराहना की है और उसे बोलचाल की हिन्दी

का वैसा ही निखरा हुआ रूप माना है, जैसे उन्होंने मीर अम्मन की *बाग़ोबहार* के गद्य को माना है, लेकिन वास्तव में *बैताल पच्चीसी* का गद्य *बाग़ोबहार* के मुक़ाबले बोलचाल की जुबान के कहीं ज़्यादा क़रीब है।

इन पाठ्य पुस्तकों के अलावा ब्रिटिश शासन के जूनियर सिविल सर्वेण्ट्स और फ़ौजी अफ़सरों की हिन्दी परीक्षा के पाठ्यक्रम के तौर पर शिवप्रसाद ने *गुटका* का संकलन-संपादन किया, जो हिन्दी पाठ्यक्रम के इतिहास में हिन्दी का पहला गद्य-पद्य संग्रह था। *गुटका* का दूसरा नाम *हिन्दी सेलेक्शंस* भी था और यह 1867 में बनारस मेडिकल हाल प्रेस से छपा। इसमें संपादक की हैसियत से शिवप्रसाद ने जिन रचनाओं का चुनाव किया, उनसे हिन्दी गद्य की विभिन्न शैलियों का स्वाद मिलता है और साहित्यिक परंपरा में उन कृतियों के स्थान और महत्त्व का भी पता चलता है। इस संग्रह में लल्लूलाल के *प्रेमसागर*, लक्ष्मण सिंह के *शंकुलता नाटक* के कुछ हिस्से, इंशाअल्ला ख़ाँ की *कहानी ठेठ हिन्दी की*, तुलसीदास कृत *बालकाण्ड*, लल्लूलाल कृत *सभा विलास* (पद्य) *कबीर की साखी* (चुने हुए अंश), *महाभारत* (भाषा अनुवाद) तथा *बिहारी की सतसई* (चुने हुए दोहों) के अलावा खुद शिवप्रसाद की तीन रचनाएँ शामिल थीं—*वीरसिंह का वृत्तांत, राजा भोज का सपना* और *वामा मनरंजन*। इसमें से *वीर सिंह का वृत्तांत* राजपूतों में कन्यावध की प्रथा के ख़िलाफ़ और *राजा भोज का सपना* धर्म के वैभवपूर्ण प्रदर्शन और बाह्याडंबरों के ख़िलाफ़ लिखी गई कहानी थीं। *वामा मनरंजन* स्कूली लड़कियों की शिक्षा के लिए 1859 में लिखी गई थी, जिसमें तीन अलग-अलग छोटी कहानियाँ हैं—पहली कहानी दमयंती की, दूसरी अहिल्या बाई की और तीसरी रानी भवानी की। शिवप्रसाद की तीनों रचनाएँ, खासकर *राजा भोज का सपना,* साफ़-सुथरे, प्रवाहपूर्ण और प्रभावशाली हिन्दी गद्य के ऐसे रूप को पेश करती हैं जिसका उन्नीसवीं सदी में दूसरा कोई सानी नहीं। *गुटका* के शुरू में शिवप्रसाद ने अंग्रेज़ी में एक लंबी भूमिका लिखी है, जिसमें आर्य भाषा परिवार, संस्कृत, पाली और प्राकृत से होते हुए खड़ी बोली हिन्दी के उद्‌भव और विकास की कहानी बताई गई है, जो शायद भाषा वैज्ञानिक और साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी भाषा का पहला लिखित इतिहास है।

हिन्दी पाठ्यपुस्तकों की ही तरह शिवप्रसाद ने उर्दू में भी पाठ्यपुस्तकें तैयार कीं। उनकी बनाई ज़्यादातर पाठ्यपुस्तकें हिन्दी और उर्दू, दोनों में समान रूप से हैं। इनके अलावा उर्दू पाठ्यपुस्तक के रूप में उन्होंने *दुनालन* नामक एक मोटा ग्रंथ तैयार किया ,जो 1855 में आगरे के ऑर्फ़न प्रेस से छपा। यह ग्रंथ मिस ग्रेस केनेडी की एक रचना का एच.कैरे टक्कर द्वारा संशोधित और संक्षिप्त किए गए रूप का उर्दू अनुवाद है। राजा शिवप्रसाद का एक दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण काम यह था कि ब्रजभाषा के काव्य से उर्दूभाषियों को परिचित कराने के लिए उन्होंने ब्रजभाषा की कविताओं को फ़ारसी लिपि

में पेश करते हुए एक संकलन *श्री ब्रजविलास* नाम से 1880 में प्रकाशित कराया। बहुत कम लोग जानते हैं कि शिवप्रसाद ख़ुद 'वाहबी' उपनाम से उर्दू में कविता लिखते थे। उनकी उर्दू शायरी का संकलन *कुलियात-ए-वाहबी: मुसम्मा मुरकाए अरजंग* शीर्षक से 1880 में लखनऊ से छपा। शिवप्रसाद हिन्दी के पहले लेखक थे, जिनकी ग्रंथावली या रचनावली छपी, हालाँकि यह रचनावली उनकी किताबों के उर्दू संस्करणों की थी, जो *मज़ामीने राजा शिवप्रसाद* नाम से छपी।

4
मुस्लिम विरोध और अंग्रेज़भक्ति

शिवप्रसाद के जीवनकाल में पश्चिमोत्तर और अवधप्रांत से मुस्लिम शासकों की हुकूमत ख़त्म हो रही थी और अंग्रेज़ी हुकूमत अपनी जड़ें जमा रही थी। उस वक़्त इन प्रांतों में राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक अंतर्विरोध ऐसे थे कि द्विज हिन्दू भद्र वर्ग और अभिजात्य वर्ग के कई सदस्यों ने अंग्रेज़ी राज का स्वागत किया। शिवप्रसाद के कुछ पुरखे दिल्ली में नादिरशाही के दौरान क़त्ल हुए थे। मुर्शिदाबाद के नवाब के ख़िलाफ़ उन्होंने अंग्रेज़ों की मदद की थी। शिक्षित नई पीढ़ी के शिवप्रसाद अंग्रेज़ों की नौकरी करते थे और उनके राजनीतिक समर्थक थे। उनका मुस्लिम विरोध उनकी किताब *इतिहासतिमिरनाशक* में खुलकर दिखाई देता है। भारत के मध्यकालीन इतिहास में सिर्फ़ बादशाहों के अत्याचार ही नहीं हुए थे। सदियों से एक साथ रहते हुए हिन्दू-मुसलमानों के बीच एक साँझी संस्कृति का रास्ता भी बन रहा था, एक दूसरे से निकटता भी बढ़ी थी। देश का आर्थिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास भी हुआ था। लेकिन शिवप्रसाद ने भारत में तुर्क, अफ़ग़ान और मुग़ल शासन को एक ख़ास रंग में रँगते हुए, ऐतिहासिक सच्चाई के ख़िलाफ़ जाकर उनके शासनकाल को सिर्फ़ भारत के पतनकाल के रूप में चित्रित किया, जैसा कि उस दौर में साम्राज्यवादी अंग्रेज़ इतिहासकार कर रहे थे और ज़्यादातर हिन्दू बुद्धिजीवी उनसे प्रभावित थे। *इतिहासतिमिरनाशक* में उन्होंने लिखा ''इन मुसलमानों ने इस देश को उसी हालत में दबा रखा और यूरोप और अमेरिका को वहाँ वालों के बुद्धिबल ने कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया।—मुसलमान जहाँ गए, यही हाल हुआ। इनकी अमलदारी में कोई देश उन्नति की सीढ़ी पर नहीं चढ़ा।''[1] अपने मुस्लिम विरोध के कारण ही वे पश्चिमोत्तर प्रांत में सैयद अहमद के सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी बनकर उभरे। अंग्रेज़ी राज की हिमायत करने के मुद्दे को छोड़कर, जिस पर दोनों एक थे-जब भी उन्हें मौक़ा मिला, उन्होंने सैयद अहमद का विरोध किया। उन्होंने सैयद की इस माँग का सख़्त विरोध किया कि मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा देने के लिए सरकार 'विशेष प्रयास' करे और उन्हें 'विशेष सुविधाएँ' दे। इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स की हैसियत से लिखी गई अपनी वार्षिक रिपोर्टों में उन्होंने आधुनिक शिक्षा के प्रति मुसलमानों के द्वंद्व और उदासीनता को सहानुभूति

---

1. *इतिहासतिमिरनाशक*, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस 1873, पृ. 84

से न देखकर हमेशा विरोध की दृष्टि से, उनके जातीय दुर्गुण के रूप में देखा। उनके समकालीन मुस्लिम नेता भी उन्हें अपने कट्टर विरोधी के रूप में ही पहचानते थे। इसे सैयद इफ़्तख़ार आलिम बिलग्रामी की एक प्रतिक्रिया में देखा जा सकता है। इनकम टैक्स एक्ट के उर्दू तर्जुमे में कठिन उर्दू का इस्तेमाल रोकने के इरादे से अपने मातहत काम करने वाले डिप्टी इंस्पेक्टर नज़ीर अहमद के सिर पर शिवप्रसाद सवार रहे। इस घटना को याद करते हुए बिलग्रामी ने शिवप्रसाद के बारे में लिखा, ''यह बाबू साहब हिन्दुओं में बड़े मुतअस्सुब (विद्वेषी) थे। बाबू साहब में मजहबी तअस्सुब बहुत था। वे चाहते थे कि कुल मुसलमानों की एक गरदन हो और मैं उसको एक झटके से उड़ा दूँ।''[1] सैयद अहमद से शिवप्रसाद की प्रतिद्वंद्विता नीतियों के प्रश्न पर नहीं, नेतृत्व को लेकर थी। इसे इंडियन पैट्रियॉटिक एसोसिएशन में हुई फूट में देखा जा सकता है। 1885 में प्रजा की शिकायतें सरकार तक पहुँचाने के लिए और शासन के प्रति निष्ठा रखते हुए भी उसकी ग़लत नीतियों की नरम आलोचना करने के उद्देश्य से कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस के ख़िलाफ़ सैयद अहमद ने इंडियन पैट्रियॉटिक एसोसिएशन क़ायम किया। इसमें अभिजात्य वर्ग के हिन्दू और मुसलमान, दोनों शामिल हुए। भींगा के महाराजा बलवंत सिंह और काशीनरेश ईश्वरी नारायण सिंह के साथ राजा शिवप्रसाद भी इसमें शामिल हुए। उद्देश्य सरकार का समर्थन और कांग्रेस का विरोध करना था। लेकिन जल्दी ही शिवप्रसाद और सैयद के बीच की प्रतिद्वंद्विता ने अपना गुल खिलाया और संगठन में विभाजन हो गया। *पायोनियर* अख़बार को लिखे सैयद अहमद के कुछ पत्रों से घटना का जो विवरण मिलता है, वह इस तरह है। अवध के *ताल्लुक़ेदारों* ने अपनी *ताल्लुक़ेदार एसोसिएशन* की एक मीटिंग 22 नवंबर 1888 को लखनऊ में बुलाई थी। मीटिंग के एजेण्डे में सैयद की *पैट्रियॉटिक एसोसिएशन* के कुछ नियमों पर भी विचार करने का मुद्दा शामिल था। लिहाज़ा मीटिंग में बाहर के कुछ ऐसे लोगों को भी बुला लिया गया, जो ताल्लुक़ेदार नहीं थे, पर पैट्रियॉटिक एसोसिएशन से जुड़े हुए थे, जैसे शिवप्रसाद और सैयद अहमद। लेकिन वहाँ मीटिंग के एजेण्डे से हटकर शिवप्रसाद ने एक नया प्रस्ताव पेश किया, जिसमें कहा गया कि सरकार के वफ़ादारों का एक केन्द्रीय संगठन स्थायी रूप से लखनऊ में खोला जाए और उसका नाम इंडियन लॉयल एसोसिएशन रखा जाए। इस पर सैयद की राय पूछी गई। सैयद का यह विचार पहले से था कि सरकार के वफ़ादारों के जितने भी ज़्यादा संगठन बन सकते हैं, बनाने चाहिए। लिहाज़ा उन्होंने शिवप्रसाद के प्रस्ताव का समर्थन कर दिया। इसके बाद शिवप्रसाद ने अपने ख़ासमख़ास काशी नरेश ईश्वरी नारायण सिंह को इस नए संगठन का अध्यक्ष घोषित कर दिया और साथ ही भींगा के राजा अथवा सैयद अहमद को

1. *हिन्दी पत्रिका*, जनवरी-सितंबर, 1944, पृ. 30-31 पर उद्धृत अंश।

संगठन का ऑनरेरी सेक्रेटरी बनाने का सुझाव रखा। शिवप्रसाद ने दो प्रस्ताव और रखे। पहला यह कि सैयद अहमद की बनाई पैट्रियॉटिक एसोसिएशन को नई प्रस्तावित लॉयल एसोसिएशन की एक शाखा में बदल दिया जाए और उसका नाम भी बदलकर ब्राँच ऑफ़ दी इंडियन लॉयल एसोसिएशन रख दिया जाए। ऐसे प्रस्ताव की बात मीटिंग के एजेण्डे में कहीं नहीं थी। सैयद अहमद इंडियन पैट्रियॉटिक एसोसिएशन की बैठक बुलाए बिना और इस मुद्दे पर सदस्यों की राय लिए बिना इस प्रस्ताव से सहमत कैसे हो सकते थे? लिहाज़ा उन्होंने इसका विरोध किया। शिवप्रसाद का दूसरा प्रस्ताव भी इतना ही अप्रत्याशित था। प्रस्ताव के रूप में शिवप्रसाद सरकार को देने के लिए एक पेटीशन तैयार करके लाए थे। पेटीशन में सरकार से माँग की गई थी कि वह क्रिमिनल कोड में कुछ ऐसी धाराएँ जोड़ दे, जिससे देशी भाषाओं में सरकार विरोधी (सेडीशस) बातें बोलने, फैलाने और लिखनेवालों को अपराधी क़रार देकर उन पर कार्रवाई की जा सके। उन दिनों भीम जी नामक एक व्यक्ति और कुछ बंगाली राष्ट्रवादी इस तरह की सरकार विरोधी आलोचना कर रहे थे। सैयद ने इस प्रस्ताव का भी विरोध किया। सैयद ने कहा कि बंगालियों और कांग्रेसियों से उनका मतभेद विचारों को लेकर है। वे उनके विचारों का विरोध करते हैं, उनके विचारों को राष्ट्रहित में नहीं मानते। लेकिन उनकी कार्रवाइयों से अगर देश मे उपद्रव होते हैं तो उससे निपटने का काम सरकार का है। सरकार ख़ुद सोचे कि वह उनसे कैसे निपटेगी? हमें क्या ज़रूरत पड़ी है कि हम इसके लिए पेटीशन दें?[1] शिवप्रसाद की योजनाएँ सफल नहीं हो पाईं। पर इस घटना से दोनों के व्यक्तित्व का फ़र्क़ उभर आया। सैयद के व्यक्तित्व में अपेक्षाकृत स्वतंत्रता अधिक थी। सिर्फ़ सरकार को प्रसन्न करने के लिए वे कुछ भी करने को तैयार नहीं थे। इंडियन पैट्रियॉटिक एसोसिएशन का सदस्य रहते हुए भी शिवप्रसाद को अलग से इंडियन लॉयल एसोसिएशन खड़ा करने की ज़रूरत क्यों पड़ी? लगता है, उन्होंने सैयद अहमद के नेतृत्व को दरकिनार करने और उसकी जगह अपने ख़ास प्रभुओं को प्रतिष्ठित करने के लिए ही एक दूसरा संगठन खड़ा करने की योजना बनाई थी और इसी कड़ी में सैयद के संगठन को प्रस्तावित नए संगठन की महज एक शाखा में बदलकर उसके क़द को घटाने की कोशिश की थी।

शिवप्रसाद मुसलमानों के जितने विरोधी थे, अंग्रेज़ों के उतने ही भक्त थे। *इतिहासतिमिरनाशक* भारत में अंग्रेज़ी राज क़ायम होने के औचित्य को दिखाती है। इसी नज़रिए से उसमें 1857 के विद्रोह का विरोध किया गया। वह विद्रोह, उनके ख़याल से अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ मुख्यत: मुसलमानों की बग़ावत थी जिसमें कुछ 'गोबर गणेश' हिन्दू

---

1. *राइटिंग एंड स्पीचेज ऑफ़ सैयद अहमद ख़ान*, सं. शान मुहम्मद, नचिकेता पब्लिकेशन, बंबई 1972, पृ. 247-49,

भी शामिल हो गए थे। शिवप्रसाद अंग्रेज़ों की योग्यता, बहादुरी और हिम्मत के बड़े प्रशंसक थे। इनके मुक़ाबले हिन्दुस्तानियों को अयोग्य और डरपोक समझते थे। यही राय उस समय सैयद अहमद और दूसरे भद्रवर्गीय बुद्धिजीवियों की भी थी। 1883 में वाइसराय की लेजिस्लेटिव काउंसिल में इलबर्ट बिल पेश हुआ तो शिवप्रसाद ने उसका विरोध किया। उस समय क़ानून यह था कि अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट अंग्रेज़ों और हिन्दुस्तानियों, दोनों के अपराधों की सुनवाई कर सकता है, पर हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेट सिर्फ़ हिन्दुस्तानियों के अपराधों की सुनवाई करेगा। इस नस्ली भेदभाव को ख़त्म करने के लिए मि. इलबर्ट ने एक बिल पेश किया था। नस्लवादी और रूढ़िवादी अंग्रेज़ों ने इसका कड़ा विरोध किया, जबकि प्रगतिशील अंग्रेज़ों और लगभग सभी भारतीयों ने इसका समर्थन किया। शिवप्रसाद ने बिल का विरोध किया। बिल के विरोध में उन्होंने काउंसिल में लंबा भाषण दिया। अंग्रेज़ों के गुणों और योग्यता की तारीफ़ करते हुए उन्होंने कहा कि जिन लोगों ने पंजाब की पहली लड़ाई 'मुदकी' नहीं देखी है और न ही 1857 का गदर देखा है, सिर्फ़ वे ही अंग्रेज़ों के बराबर योग्य समझने की ग़लती कर सकते हैं। शिवप्रसाद ने मुदकी की लड़ाई में हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ फ़ौजियों से लेकर गवर्नर जनरल तक की बहादुरी और हिम्मत को याद करते हुए इलबर्ट के उस बिल को नामंजूर कर दिया जिसमें अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों की योग्यता को बराबर मानने का आग्रह किया गया था। इस विरोध के कारण बिल पास नहीं हो सका। बंगाल में उभर रहे राष्ट्रवादियों ने क्षुब्ध होकर शिवप्रसाद का पुतला जलाया और उसका दाहकर्म एक मेहतर से करवाया। राष्ट्रवादियों के विरोध के बावजूद शिवप्रसाद अपने विचारों पर अडिग रहे। दस साल बाद भी इस घटना को याद करते हुए उन्होंने लिखा, ''अगर हज़ार हिन्दुस्तानी भी मुसलह और मुस्तइद होकर यहाँ खड़े रहें और दस गोरे हेनरी मार्टिन भरकर सामने आवें, ज़रूर सबके सब भाग जावेंगे।''[1]

नौकरी से रिटायर होने के दस साल बाद 1888 में शिवप्रसाद कांग्रेस सम्मेलन में बाक़ायदा डेलीगेट बनकर शामिल होने के लिए इलाहाबाद आए। यह ताज्जुब की बात थी, क्योंकि वे न सिर्फ़ अभी तक कांग्रेस का विरोध करते आए थे, बल्कि उनके द्वारा प्रस्तावित लॉयल एसोसिएशन का एक नियम यह भी था कि इसका कोई भी प्रतिनिधि कांग्रेस का सदस्य नहीं बन सकता।[2] शायद शिवप्रसाद ने ख़ुद को राजनीतिक रूप से थोड़ा बदलने की कोशिश की हो। कांग्रेस सम्मेलन में जाकर उन्होंने अपने पुराने विचारों और कामों पर कुछ अफ़सोस भी ज़ाहिर किया। लेकिन फिर भी शिवप्रसाद अपनी कोई नई छवि नहीं बना सके और कांग्रेसियों ने उन्हें किसी तरह झेला। प्रतापनारायण मिश्र उस सम्मेलन में मौजूद थे। 15 जनवरी, 1889, हरिश्चंद संवत् 5 के *ब्राह्मण* में उन्होंने सम्मेलन

1. सवानेह उमरी, पृ. 44
2. राइटिंग एंड स्पीचेज ऑफ़ सैयद अहमद खान, पृ. 249

में शिवप्रसाद के आने और जाने के बारे में एक दिलचस्प टिप्पणी लिखी। उन्होंने लिखा—''25 ता: को हमारे राजा शिवप्रसाद साहब भी प्रयागजी में आए और डेलीगेट होने का दावा किया, वरंच फीस भी जमा कर दी एवं अपने पूर्व कृत्यों पर अनुताप भी प्रकाशित किया। पर किसी को विश्वास न हुआ। विश्वास तो तब होता जब आप किसी देशहित के काम में शरीक हुए होते। लोग नाना प्रकार के तर्क-वितर्क करने लगे। किसी ने कहा 'राज जुबति गति जानि न जाई।' किसी ने कहा, चतुर तो हई हैं, कौन जाने ''चौथेपन नृप कानन जाहीं'' का उदाहरण दिखावें। किसी ने कहा, अभी यही तो कांग्रेस वालों को दंडनीय ठहराते थे, एकबारगी क्यों कर बदल जाएँगे। ज़रूर कुछ दाल में काला है। इनका यहाँ आना भेद से ख़ाली नहीं है। अवश्य 'कोई माशूक़ है इस परदए जंगारी में।' अस्तु, बहुत कहने-सुनने से मिला लिए गए। पर 26 तारीख को कुछ बोले चाले नहीं। इससे सबको निश्चय-सा हो गया कि दिनभर का भूला साँझ को घर आ गया होगा। पर 27 तारीख को लीला दिखाना आरंभ ही तो किया। आप जानते हैं शिवजी गरल कंठ तो हुई हैं। उसकी झार हम मनुष्यों से कहाँ सही जाती है। आप बोलते जाते थे, लोग हिचकी ले ले के रद्द करते जाते थे! अंत में जब श्रोतागण बिल्कुल उकता गए तो 'गच्छ गच्छ सुर श्रेष्ठ' वाला मंत्र पढ़ने लगे। अस्तु, आप विराजे और परमाचार्य (सभापति) श्रीयुत जार्जयूल तथा श्री नवल किशोर वाजपेयी ने उस विष की शांति के लिए मंत्रपाठ किए। दूसरे दिन हमारे सी.एस.आई. महाशय अपनी काशी को पधार गए और कांग्रेस रूपी कलानिधि का ग्रहण छूटा।''[1]

असल में उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दो दशकों में राजनीतिक परिस्थितियाँ तेज़ी से बदल रही थीं। ब्रिटिश शासन से भारतीयों का असंतोष बढ़ रहा था और शासन के बुरे नतीजे सामने आ रहे थे। इस बदलते हुए राजनीतिक यथार्थ से सैयद अहमद और शिवप्रसाद जैसे सरकार के पुराने ख़ैरख़्वाह अपना तालमेल बैठा नहीं पाए। ये यथार्थ बोध के अपने पुराने दायरों में ही घूमते रहे। कंपनी बहादुर और महारानी विक्टोरिया के आगे कुछ और न देख सके। इससे बदल रहे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में दोनों राजनीतिक रूप से अप्रासंगिक होते चले गए और अपने-अपने समाज में निन्दा के पात्र भी बने।

---

1. *प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली*, सं. विजयशंकर मल्ल, का. ना. प्र. सभा, वाराणसी, 1992, पृ. 169-170

5
शिवप्रसाद विरोधी अभियान

हिन्दी साहित्य में जितना विरोध राजा शिवप्रसाद को झेलना पड़ा, उतना और किसी को झेलना नहीं पड़ा। भारतेन्दु मंडली ने उनके ख़िलाफ़ लंबे समय तक लगातार प्रचार चलाया। उनके विरोध का एक मुख्य कारण उनकी राजभक्ति और अंग्रेज़ों की चापलूसी को बताया गया। लेकिन राजभक्ति और चापलूसी तो उनके विरोधियों में भी थी। उनके विरोध का एक बड़ा कारण उनकी भाषाशैली थी। हिन्दी और उर्दू को हिन्दू-मुसलमानों की अस्मिता का प्रतीक बनाकर हो रही सांप्रदायिक गोलबंदी के परिवेश में यह आरोप लगाया गया कि वे नागरी अक्षरों में ख़ालिस उर्दू लिखते हैं। यह बात सही नहीं थी। शिवप्रसाद ने विभिन्न शैलियों में गद्य लिखा था। उनकी भाषा शैली उन्नीसवीं सदी के तमाम हिन्दी लेखकों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा स्वाभाविक, जीवंत, मुहावरेदार और प्रवाहपूर्ण थी। उनके विरोध का एक कारण यह भी था कि वे अपने समय में शुरू हुए उर्दू विरोधी हिन्दी आंदोलन का समर्थन नहीं करते थे। चूँकि सरकार उर्दू का पक्ष लेती थी, इसलिए शिवप्रसाद को हिन्दीद्रोही ठहराया गया। जिस व्यक्ति ने हिन्दी को प्रांत में शिक्षा का माध्यम बनवाया, हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें तैयार कराईं, प्रभावशाली हिन्दी गद्य लिखा और देवकीनंदन खत्री की तरह हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में योगदान किया, उसी पर हिन्दीद्रोह का आरोप लगाने से बढ़कर अन्याय और क्या हो सकता था? बेशक शिवप्रसाद उर्दू विरोधी आंदोलन में शामिल नहीं हुए क्योंकि नागरी लिपि के दृढ़ समर्थक होने के बावजूद वे हिन्दी और उर्दू को दो अलग-अलग भाषाएँ मानने को तैयार नहीं थे। वे इन्हें एक-दूसरे के विरोध में खड़ी करके इनके बीच की खाई को और बढ़ाना नहीं चाहते थे। उलटे वे इन्हें एक-दूसरे को क़रीब लाना और इनका एक सामान्य रूप निकालना चाहते थे। उन्हीं के प्रयत्नों से आख़िरकार सरकार ने भी स्कूली पाठ्य पुस्तकों के लिए भाषा के ऐसे सामान्य रूप को अपनी क़ानूनी मान्यता दी। हिन्दी-उर्दू के बीच खाई पाटने के उनके प्रयत्नों में कहीं-कहीं असंतुलन भी दिखाई देता है। इसके बावजूद उनके प्रयत्नों में एक गंभीरता थी और उसकी निरंतरता हमेशा बनी रही।

शिवप्रसाद विरोधी अभियान शुरू करने के पीछे भारतेन्दु का उनसे व्यक्तिगत मन-

मुटाव भी था। शुरू में भारतेन्दु उनके विरोधी नहीं थे। उन्हें 'सितारैहिन्द' का ख़िताब मिलने पर भारतेन्दु ने जश्न मनाया था। लेकिन जब शिवप्रसाद की शिकायत पर सरकार ने भारतेन्दु के ख़िलाफ़ कार्रवाई करते हुए उनकी पत्रिकाओं को दी जाने वाली आर्थिक मदद रोक दी तो भारतेन्दु ने पलटवार करते हुए शिवप्रसाद को हिन्दीद्रोही ठहराते हुए उनके ख़िलाफ़ अभियान छेड़ दिया। भारतेन्दु मंडली ने शिवप्रसाद का हर तरह से विरोध किया और यह विरोध बहुत दूर तक गया। बालकृष्ण भट्ट जैसे लोग घृणा की हद तक शिवप्रसाद का अंध विरोध करते थे। शिवप्रसाद को 'सितारैहिन्द' का ख़िताब मिलने को अब उनकी सरकारी चापलूसी का पुरस्कार बताकर व्यंग्य और कटाक्ष का निशाना बनाया जाने लगा। उसके विरोध में और उसके मुक़ाबले में भारतेन्दु मंडली के लेखकों ने हरिश्चंद्र को 'भारतेन्दु' का ख़िताब दिया जो 'सितारैहिन्द' से कहीं ज़्यादा सम्मानित और विख्यात हुआ। 1881-82 में गोरक्षा आंदोलन की आवाज़ इंग्लैंड की संसद तक पहुँचाने के लिए जब एक प्रतिनिधि मंडल भेजना तय हुआ और काशी नरेश ने उसमें शिवप्रसाद को शामिल किया तो बालकृष्ण भट्ट समेत कई लेखकों ने यह कहकर विरोध किया कि शिवप्रसाद उसके लिए 'उपयुक्त' व्यक्ति नहीं हैं। भट्टजी ने यह इल्ज़ाम भी लगाया कि गोरक्षा प्रतिनिधिमंडल में शामिल होकर असल में शिवप्रसाद अपने दोनों बेटों को अपने साथ मुफ़्त में इंग्लैंड ले जाकर वहाँ आई.सी.एस. की परीक्षा दिलवाना चाहते हैं। 1882 में वायसराय ने शिवप्रसाद को लेजिस्लेटिव काउंसिल का सदस्य मनोनीत किया तो इसका भी व्यापक विरोध हुआ और शिवप्रसाद के बजाय भारतेन्दु हरिश्चंद्र को सदस्य मनोनीत कराने के लिए हिन्दी पत्रिकाओं में हस्ताक्षर अभियान चलाया गया। 1883 में स्थानीय स्वशासन बिल पर विचार करने के लिए एक प्रांतीय कमेटी का गठन हुआ। सरकार ने उसमें नागरिक प्रतिनिधि के तौर पर शिवप्रसाद को मनोनीत किया। बालकृष्ण भट्ट ने इसका कड़ा विरोध करते हुए *हिन्दीप्रदीप* में लिखा "वह हमारे, प्रजा के, प्रतिनिधि नहीं है, सरकार के हैं।" (*हिन्दीप्रदीप*, जून, 1883) 1880 के दशक के आख़िरी सालों में *भारत जीवन* (बनारस) अखबार में छपी एक ख़बर से पता चलता है कि एकबार भीड़ द्वारा शिवप्रसाद के घर पर भी हमला किया गया और कुछ लूटपाट हुई। एक दूसरे महत्त्वपूर्ण, लेकिन अपुष्ट सूत्र से पता चलता है कि कैसे काशी नागरीप्रचारिणी सभा का अध्यक्ष बनने से उन्हें बलपूर्वक रोका गया। शिवप्रसाद की मृत्यु के दो साल पहले 1893 में काशी में नागरीप्रचारिणी सभा क़ायम हुई। कहते हैं कि शिवप्रसाद की प्रभावशाली हैसियत और नागरी आंदोलन में उनकी ऐतिहासिक भूमिका को देखते हुए उन्हीं को सभा का पहला अध्यक्ष बनाने की योजना बनी थी। उन दिनों प्रतिनिधियों की आम सभा में सभापति का प्रत्यक्ष खुला चुनाव हुआ करता था, जिसमें उम्मीदवार को ख़ुद वहाँ उपस्थित रहना होता था। कहते हैं कि सब बातें तय हो चुकी थीं और प्रतिनिधि

सभा में उपस्थित रहने के लिए शिवप्रसाद अपने घर से चल पड़े थे। रास्ते में कुछ 'अग्रवाल हुल्लड़बाज़ों' ने उपद्रव करके उन्हें रोक लिया, सभा स्थल तक पहुँचने ही नहीं दिया।[1]

आजीवन शिवप्रसाद के ख़िलाफ़ चले विरोधी अभियान का नतीजा यह निकला कि हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में उनकी छवि एक खलनायक जैसी बना दी गई और विरोध के बवंडर से उठी धूल ने उनकी वास्तविक उपलब्धियों को ढँक दिया।

जैसे शिवप्रसाद विवादास्पद रहे, वैसे ही उनकी किताबें भी विवादास्पद रहीं। उनकी बनाई कुछ किताबें काफ़ी विरोध और आलोचना का विषय बनीं। उनके बनाए हिन्दी-उर्दू के संयुक्त व्याकरण की भारतेन्दु ने 'फजीहत राय' नाम से हँसी उड़ाते हुए समीक्षा लिखी—भला इस व्याकरण को पढ़ेगा कौन? सबसे ज़्यादा आलोचना *इतिहासतिमिरनाशक* की हुई। इसकी कड़ी आलोचना सैयद अहमद की मंडली और भारतेन्दु मंडली, दोनों ओर से हुई। पहले दो खंडों की आलोचना सैयद अहमद और उनके साथियों ने की। तीसरा खंड छपने के बाद आलोचना भारतेन्दु मंडली ने की। किताब को स्कूली पाठ्यक्रम से हटाने की मुहिम दोनों ने चलाई। सैयद अहमद की मंडली ने किताब के विरोध में जो अभियान चलाया, उसके बारे में एवरिल ए. पॉवेल ने अपने एक शोधपरक निबंध में काफी जानकारी दी है।[2] *इतिहासतिमिरनाशक* के ख़िलाफ़ सैयद अहमद और उनके साथियों की मुख्य आलोचना यह थी कि इस किताब में तथ्यों के नाम पर कई बातें न सिर्फ़ मुस्लिम भावनाओं को चोट पहुँचाने वाली हैं, बल्कि पूरी किताब आमतौर पर मुसलमानों के ख़िलाफ़ दुश्मनी की भावना लिए हुए हैं। इसके लेखक ने भारत में मुस्लिम शासकों की हकूमत के ख़िलाफ़, उनकी क्रूरताओं को दिखाने और ज़हर उगलने का कोई भी मौक़ा छोड़ा नहीं है। ख़ासकर उसके दिए गए तीन-चार 'तथ्य' बहुत आपत्तिजनक हैं—बादशाह फ़र्रूख़सियर द्वारा सिक्ख गुरु बंदाबहादुर और उसके बच्चों पर किए अत्याचार को दिखाना; सिक्खों द्वारा 1857 में दिल्ली के मुसलमानों पर कहर बरसाने को इस तरह उचित ठहराना मानों सिक्खों ने बंदाबहादुर का बदला ले लिया हो; 1857 के विद्रोह के

1. यह सूचना मुझे दिवंगत सुधाकर पांडे ने 1998 में बनारस में दी थी, जब मैं सभा के पुस्तकालय में शोधकार्य के लिए आया था। पूछने पर सुधाकर जी ने बतलाया था कि उन्हें यह सूचना एक मित्र ने *भारत जीवन* में छपी एक ख़बर के आधार पर दी थी। मैंने इस ख़बर की पुष्टि के लिए खोज-पड़ताल की, लेकिन दुर्भाग्य से *भारत जीवन* के सभी अंक उपलब्ध नहीं होने के कारण इसकी पुष्टि नहीं हो सकी।
2. एवरिल ए. पॉवेल, हिस्ट्री टेक्स्टबुक्स एंड दी ट्रांसमिशन ऑफ दी प्री-कोलोनियल पास्ट इन नॉर्थ-वेस्टर्न इंडिया इन दी 1860 एंड 1870, दाउद अली द्वारा संपादित ग्रंथ *इनवोकिंग दी पास्ट* में शामिल निबंध, ओ.यू.पी. नई दिल्ली 1999.

लिए सिर्फ़ मुसलमानों को अपराधी ठहराना और उसमें भाग लेनेवाले हिन्दुओं के प्रति नरम रुख़ रखना और कूच पर जानेवाली औरंगज़ेब की फ़ौज का हास्यास्पद वर्णन करना। उन्होंने एक मेले की तस्वीर से संबंधित 'तथ्य' की भी आलोचना की जिसमें बादशाह मुहम्मदशाह को नंगे और उसकी गर्दन पर जूता लेकर सवार एक औरत को दिखलाया गया था। इस ऐतिहासिक 'तथ्य' को शिवप्रसाद ने इस आधार पर पेश किया था कि यह तस्वीर उनके एक मित्र के पास मौजूद है।

इतिहासतिमिरनाशक के ख़िलाफ़ 1867 में सैयद अहमद के मुख पत्र *अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट* में कई लेख छपे। पॉवेल का ख़्याल है कि इन लेखों के पीछे सैयद के उन अंग्रेज़ दोस्तों का भी हाथ रहा होगा जो कैम्पसन की नीतियों के विरोधी थे। इस ख़याल की वजह यह है कि 1867 गजट में छपे एक लेख में *इतिहासतिमिरनाशक* के अंग्रेज़ी संस्करण को और साथ ही कैम्पसन को भी हमले का निशाना बनाया गया था। 1869 में जब सैयद अहमद इंग्लैंड गए तो वहाँ उन्होंने सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट को 'स्ट्रिक्चर अपॉन दी प्रेजेण्ट एजूकेशनल सिस्टम इन इंडिया' नाम से एक मेमोरेण्डम दिया था। इसमें उन्होंने कैम्पसन द्वारा स्कूलों में लगाई गई किताबों की आलोचना करते हुए *इतिहासतिमिरनाशक* में दिए गए मुस्लिम विरोधी 'तथ्यों' की ओर भी ध्यान खींचा था। भारतीय मुसलमानों के बीच शिक्षा फैलाने के वास्ते बनी सेलेक्ट कमेटी ने इन आपत्तियों की नोटिस ली और इस बारे में अपनी एक रिपोर्ट प्रांतीय सरकार को दी। आख़िरकार प्रांतीय सरकार को इन आपत्तियों को गंभीरता से लेना पड़ा और *इतिहासतिमिरनाशक* में ज़रूरी सुधार करने का निर्देश देना पड़ा। नतीजतन 1867 से 1872 के बीच कैम्पसन ने सबसे पहले किताब के अंग्रेज़ी संस्करण में और फिर उर्दू संस्करण में कुछ सुधार किए। लेकिन मामला ख़त्म नहीं हुआ। सेलेक्ट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि प्रभावशाली मुस्लिम नागरिकों ने पश्चिमोत्तर प्रांत की शिक्षा प्रणाली में कुल पंद्रह दोष गिनाए हैं और इनमें से एक दोष *इतिहासतिमिरनाशक* के उर्दू संस्करण को पाठ्यक्रम में रखना है। रिपोर्ट से वायसराय का ध्यान भी इस मुद्दे की ओर गया और इसमें दिलचस्पी लेते हुए उन्होंने किताब के अंग्रेज़ी संस्करण को मँगवाया। वायसराय की इंपीरियल काउंसिल में किताब को लेकर बहस हुई। केन्द्र सरकार ने सैयद अहमद से किताब के ख़िलाफ़ ठोस और विशेष आरोपों की एक सूची बनाकर देने को कहा। यह सूची 1872 में सरकार को भेज दी गई। पूछे जाने पर कैम्पसन ने भी अपना पक्ष भारत सरकार को लिखकर भेज दिया। कैम्पसन ने अपने जवाब में शिवप्रसाद का बचाव करते हुए किताब को तथ्यपरक बतलाया और इतिहासकार की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया। इस विवाद में लेफ़्टिनेंट गवर्नर विलियम म्योर की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण थी। वे उर्दू और मुस्लिम भद्रवर्ग से सहानुभूति रखते थे, पर इस्लामिक सभ्यता और उसके धार्मिक इतिहास के प्रति काफ़ी आलोचनात्मक थे। सैयद

अहमद से उनके संबंध अच्छे थे। लेकिन उन्होंने भी आख़िरकार अपने शिक्षा निदेशक कैम्पसन का पक्ष लेते हुए किताब के आम लहजे को सही ठहराया। इस सबकी रौशनी में 1873 में भारत सरकार ने किताब के ख़िलाफ़ किसी बड़ी कार्रवाई की ज़रूरत नहीं समझी, लेकिन उसमें कुछ सीमित सुधार करने का आदेश दे दिया।

1873 में जब *इतिहासतिमिरनाशक* का तीसरा खंड (हिन्दी) छपा, तो इसका नए सिरे से विरोध उठ खड़ा हुआ। इस बार विरोध भारतेन्दुमंडली की ओर से हुआ। ग़ौरतलब बात यह है कि यह विरोध सिर्फ़ तीसरे खंड का नहीं था, बल्कि पहले के दो खंडों का भी था, हालाँकि उन्हें छपे कई साल गुज़र चुके थे और तब भारतेन्दु मंडली ने उनके ख़िलाफ़ चूँ तक नहीं किया था। इसका सीधा-सा कारण यह था कि उस इतिहास लेखन से उनका कोई ख़ास विरोध नहीं था और न ही तब तक भारतेन्दु शिवप्रसाद के विरोधी हुए थे। *हरिश्चंद्र मैगज़ीन* के फ़रवरी, 1874 के अंक में *इतिहासतिमिरनाशक* के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ी में एक समीक्षात्मक लेख छपा, जिसमें ऐसी अनर्गल किताब को स्कूली पाठ्यक्रम में रखे जाने का विरोध किया गया। इस लेख में *इतिहासतिमिरनाशक* के ख़िलाफ़ तीन मुख्य आरोप लगाए गए (i) इसमें पुराणों से हिन्दुओं के विश्वास को ख़त्म करने का प्रयास किया गया है, जिससे क्रांति मच जाएगी। इसमें हिन्दू संस्थाओं पर भी हमला किया गया है, जिससे सनातनी हिन्दुओं की भावनाओं को चोट पहुँचती है। (ii) इसमें मुस्लिम शासकों के अत्याचारों का जो वर्णन है, वह सही होने पर भी, स्कूली लड़कों के मन पर बुरा असर डालने वाला है और उससे हिन्दू-मुस्लिम एकता को चोट पहुँचती है। (iii) इसमें मुस्लिम शासकों के शासन की तो काफ़ी आलोचना है, लेकिन अंग्रेज़ी राज की कोई आलोचना नहीं की गई जबकि अंग्रेज़ी शासकों के भी कई क़ानून उतने ही बुरे हैं जितने मुस्लिम शासकों के थे, बल्कि उससे भी ज़्यादा बुरे हैं। इसलिए यह किताब एकांगी है।

भारतेन्दु मंडली ने किताब के खिलाफ़ सरकार के पास उस तरह से विरोध दर्ज नहीं करवाया, जिस तरह सैयद अहमद और उनके साथियों ने कराया था। शायद इसी वजह से सरकार ने भी इस विरोध की कोई नोटिस नहीं ली। लेकिन हिन्दी प्रेस में किताब का विरोध काफ़ी लंबे समय तक चलता रहा।

6

राजा शिवप्रसाद और नवजागरण

उन्नीसवीं सदी में धर्म और समाज सुधार के जो आंदोलन चले, उनके प्रति राजा शिवप्रसाद का रुख़ क्या था?

उन्नीसवीं सदी के ज़्यादातर हिन्दी लेखक कुछ एक सामाजिक सुधारों के समर्थक थे, पर वे धर्म में किसी भी तरह का बुनियादी सुधार लाने के ख़िलाफ़ थे। शिवप्रसाद का रुख़ भी ऐसा ही था। पश्चिमोत्तर प्रांत में नवजागरण की दो मुख्य संस्थाएँ थी—ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज। ब्रह्मसमाज का असर बहुत सीमित था। सिर्फ़ नौकरी के सिलसिले में बाहर से आए बंगाली ही इसके अनुयायी थे। आर्यसमाज का असर व्यापक था पर इसका प्रभाव प्रांत के पश्चिमी ज़िलों में, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, बरेली, आगरा वग़ैरह में ही था। गोरखपुर, बनारस और इलाहाबाद जैसे प्रांत के पूरबी ज़िलों में इसका असर बहुत कम था। हिन्दी के ज़्यादातर महत्त्वपूर्ण लेखक पूरबी ज़िलों में ही हुए। काशीनाथ खत्री जैसे दो—एक बड़े लेखकों को छोड़कर—जो पूरी तरह आर्यसमाजी थे—हिन्दी के ज़्यादातर लेखक वैष्णव, शैव, सनातनी थे और ब्रह्म तथा आर्यसमाज के बुनियादी तौर पर विरोधी थे। बाद में जाकर उन्होंने आर्य समाज के कुछ सामाजिक सुधारों की सराहना की, लेकिन उसके धार्मिक सुधारों का समर्थन कभी नहीं किया। यही स्थिति राजा शिवप्रसाद की भी थी।

जैनी होते हुए भी शिवप्रसाद धर्म के क्षेत्र में *मनुस्मृति* को बहुत मानते थे। शिवप्रसाद इसे न सिर्फ़ हिन्दुओं का मुख्य धर्मशास्त्र मानते थे, बल्कि मानव मात्र के लिए बहुत उपयोगी समझते थे। इसके चुने हुए श्लोकों का हिन्दी अनुवाद करके उन्होंने इसे *मानव धर्मसार* नाम से छपवाया। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा—''खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिन्दू कहला के अपने *मानव धर्मशास्त्र* को न जानें और सारे काम उसके विरुद्ध करें। जो वचन ब्राह्मणों ने दान-दक्षिणा लेने में अपने उपयोगी समझे, उन्हें तो सर्वदा पढ़ाते-सुनाते रहे और जो वचन हमको हमारे धर्म की जड़ जान पड़ते हैं, उन्हें मानो मन ही से भुला दिए।'' शिवप्रसाद ने लिखा कि उन्होंने यह अनुवाद हिन्दुओं का असली धर्म सामने लाने के उद्देश्य से किया है—''धर्म हिन्दुओं का यह उनके आगे हैं। अब इस पर चलना, न चलना, उनके हाथ में हैं।'' मनुस्मृति के आगे शिवप्रसाद ने उन्नीसवीं सदी के सभी धर्म सुधार आंदोलनों को बेकार का समझा।

बनारस हमेशा से संस्कृत में लिखे गए धर्मशास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की नगरी रही है। यहाँ के पंडित किसी भी विचार का खंडन या मंडन करने के लिए धर्मशास्त्रों से प्रमाण जुटाने की परंपरा में पारंगत होते थे। उन्नीसवीं सदी में पं. विशुद्धानंद, पं. बालाशास्त्री, पं. सखाराम भट्ट वग़ैरह बनारस के मशहूर सनातनी पंडित थे, जिनसे शिवप्रसाद की नज़दीकी थी। इन्हीं पंडितों के साथ 1869 में स्वामी दयानंद सरस्वती का मूर्तिपूजा को लेकर मशहूर शास्त्रार्थ हुआ था। दयानंद सरस्वती राजा शिवप्रसाद के समकालीन थे। दोनों ने एक-दूसरे के नाम और काम के बारे में सुन रखा था। दोनों की पहली मुलाक़ात बनारस में 1879 में संयोग से महाराजा विजयनगरम के आनंदबाग़ में हो गई। राजा शिवप्रसाद वहाँ कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवेत्सकी से मिलने आए थे। वहीं पर स्वामी दयानंदजी भी ठहरे हुए थे। बाहर बग़ीचे में अचानक मुलाक़ात होने पर शिवप्रसाद ने दयानंद जी से कुछ प्रश्न पूछे। पर वहाँ बातचीत पूरी न हो पाई। उन्हीं प्रश्नों को लेकर फिर दोनों में पत्राचार चला। उनके बीच बहस वेदों तथा उपनिषदों-स्मृतियों की प्रामाणिकता को लेकर हो रही थी। दयानंद का कहना था कि एकमात्र वेद ही स्वतः प्रमाण हैं, ब्राह्मणग्रंथ नहीं। उनकी प्रामाणिकता वेदों के अधीन है। यह मान्यता शिवप्रसाद के गले नहीं उतरी। उनका कहना था कि जैसे वेद प्रामाणिक हैं, वैसे ही ब्राह्मणग्रंथ भी प्रामाणिक हैं। अगर ब्राह्मणग्रंथ प्रामाणिक नहीं, तो उसी तरह से वेद भी प्रामाणिक नहीं ठहरेंगे। इस पर दयानंद ने उन्हें अपना ग्रंथ *ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका ग्रंथ* मँगा के पढ़ने के लिए कहा। शिवप्रसाद ने पढ़ा तो, ''विचित्र लीला दिखाई दी। आधे-आधे वचन जो अपने अनुकूल दिखाई दिए, ग्रहण किए हैं और शेषार्ध का जो प्रतिकूल पाए, परित्याग। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव के विरुद्ध देखे, उनके अर्थ पलट दिए, मनमाने लगा लिए।''[1] दोनों के बीच विरोध खुलकर सामने आने लगा और पत्राचार कटु होता चला गया। इस बीच शिवप्रसाद ने शिक्षित लोगों को दयानंद से आगाह करने के इरादे से जून, 1880 में अपना पत्राचार पुस्तक रूप में छपवा दिया—*निवेदन राजा शिवप्रसाद सितारैहिन्द का सज्जन आर्य पुरुषों से*। इसकी भूमिका में उन्होंने दयानंद से प्रभावित होनेवाले आर्यों को सावधान किया—''ऐसा न हो कि अंधेनैव नीयमाना यथांधा के सदृश्य केवल दयानंदजी के भाष्य और भूमिका की ही लाठी थामे किसी अथाह गढ़हे वा नरककुंड में जा गिरें।'' इससे दयानंद के कान खड़े हुए। शिवप्रसाद ने दयानंद से मिले एक पत्र पर बनारस के मशहूर पंडित स्वामी विशुद्धानंद से लिखवा लिया था कि राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानंद से नहीं बना। इससे दयानंद को संदेह हुआ कि शायद शिवप्रसाद यह प्रचारित करना चाहते हैं कि देखो, जिस दयानंद को काशी के पंडित नहीं हरा सके, वह मेरे सामने निरुत्तर हो

1. भूमिका, *निवेदन राजा शिवप्रसाद सितारैहिन्द का सज्जन आर्य पुरुषों से*

गए! दयानंद ने उनसे पत्राचार बंद कर दिया और अपना भी पक्ष *भ्रमोच्छेदन* शीर्षक से पुस्तक रूप में छपवा दिया। इस छोटी-सी किताब में 'अविद्वानों' का भ्रमोच्छेदन करते हुए दयानंद ने लिखा कि, "मैंने राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन के चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनंद पावें।....देखना चाहिए कि जैसा उनको मैं सुनता हूँ, वैसा ही वे हैं या नहीं।"[1] लेकिन जब उनसे मुलाक़ात हुई, बात हुई और पत्राचार भी हुआ तो "शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था, वैसा उनको न पाया।" इन पंक्तियों के फ़ुटनोट में दयानंद ने जोड़ा "राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी।" अपनी *ऋगवेदादिभाष्य भूमिका* पर शिवप्रसाद की आलोचना का जवाब देते हुए दयानंद ने लिखा "राजाजी ने वेदों से ले के पूर्व मीमांसा पर्यन्त विद्या पुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ संबंधों को जाना नहीं है, इसलिए उनको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक ठीक विदित न हुआ।"

निवेदन और *भ्रमोच्छेदन* छप जाने के बाद दोनों के अनुयायियों के बीच भी बहस छिड़ गई और बहस प्रेस तक पहुँच गई। अख़बारों के कॉलम रँगे जाने लगे। तब शिवप्रसाद ने दयानंद के ख़िलाफ़ एक और पुस्तक *निवेदन-2* छपवाई। इसमें उन्होंने दयानंद के ख़िलाफ़ खुलकर व्यंग्य और कटाक्ष भरे हमले किए। कर्नल अल्काट और मेडम ब्लैवेत्स्की से दयानंद के संबंधों को ध्यान में रखकर कटाक्ष किया कि दयानंद ने शास्त्र विद्या कहीं रूस या अमरीका की किसी मेम या साहब से तो नहीं पढ़ी? "निदान जब मैंने गौतम और कणाद के तर्क और न्याय से अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामीजी महाराजा की वाक्य रचना का उससे कुछ संबंध देखा; डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम अथवा साहब से कोई नया तर्क और न्याय रूस, अमरीका अथवा किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।" इस बार शिवप्रसाद ने दयानंद से हुए पत्राचार को विशुद्धानंद की जगह काशी नरेश द्वारा स्थापित स्कूल के अंग्रेज़ प्रिंसिपल डॉक्टर टीबो को दिखलाया और उस पर उनकी यह राय लिखवा ली कि "हम तो स्वामीजी महाराज को बड़ा पंडित जानते थे, पर अब उनके मनुष्य होने में भी संदेह होता है।"[2]

निवेदन-2 के जवाब में दयानंद के प्रमुख शिष्य और सहयोगी भीमसेन शर्मा ने *अनुभ्रमोच्छेदन* लिखा। भीमसेन ने वेदों और ब्राह्मणग्रंथों की प्रामाणिकता के बारे में

---

1. *भ्रमोच्छेदन,* वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1983
2. शिवप्रसाद की *निवदेन-2* उपलब्ध नहीं हो सकी। लेकिन उसमें लगाए गए आरोपों का उत्तर मशहूर आर्य समाजी विद्वान भीमसेन शर्मा की लिखी किताब *अनुभ्रमोच्छेदन* (वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1995) में दिए गए हैं। ऊपर के उद्धरण इसी किताब से लिए गए हैं।

दयानंद की मान्यताओं के ख़िलाफ़ शिवप्रसाद की आपत्तियों का एक-एक कर जवाब देते हुए शिवप्रसाद के हमलों को नाजायज़ क़रार दिया। भीमसेन ने दयानंद पर अक्सर होने वाले बौद्धिक और शारीरिक हमलों का जिक्र किया और उन हमलों के आगे दयानंद के अडिग खड़े रहने के साहस की सराहना की। अंत में भीमसेन ने शिवप्रसाद के ग्रंथ *इतिहासतिमिरनाशक* की भी आलोचना करते हुए लिखा, "जो उन्होंने *इतिहासतिमिरनाशक* ग्रंथ बनाया है, उसको कोई विद्वान पक्षपात रहित सज्जन पुरुष ध्यान देकर देखे तो राजाजी की मानसपरीक्षा और सौजन्य विदित अवश्य हो जाते कि इनका क्या अभीष्ट है। इसमें अप्रमाण वेदादिशास्त्राभिप्रायशून्य बहुत बातें है, और कुछ अच्छी भी है। जो अच्छी है उनका स्वीकार और जो अन्यथा हैं, उनके संक्षेप से दोष भी प्रकाशित करता हूँ।"[1]

उन्नीसवीं सदी में नए उठनेवाले किसी भी धार्मिक आंदोलन का शिवप्रसाद ने समर्थन नहीं किया। उनके समय में एक धार्मिक आंदोलन थियोसॉफ़ी का था, जिसके प्रवर्तक कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवेत्स्की थीं। ये लोग प्राचीन हिन्दू धर्म का ख़ूब गुणगान करते थे और साथ ही तरह-तरह की सिद्धियों और चमत्कारों का भी प्रदर्शन करते थे। मैडम ब्लैवेत्स्की मृत आत्माओं को बुलाने और उनसे संवाद करने का दावा करती थीं। शिवप्रसाद इनसे कभी सहमत नहीं हुए। लेकिन बनारस की नई शिक्षित पीढ़ी काफ़ी प्रभावित हो रही थी। अल्काट ने थियोसॉफ़ी सोसायटी का प्रचार करते हुए बनारस में एक व्याख्यान दिया। उनके विचारों का खंडन करते हुए 8 अगस्त, 1885 को राजा शिवप्रसाद ने भी बनारस इंस्टीट्यूट में एक व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान बाद में पुस्तक रूप में भी छपा। शीर्षक था— *लेक्चर राजा शिवप्रसाद का : थियासुफ़ी और ड्यूटी : ज्ञान और कर्म*। अपने लेक्चर में उन्होंने ब्लैवेत्स्की के चमत्कारों की पोल खोलते हुए उनके पीछे भागनेवाले शिक्षितों की 'अधकचरी समझ' की कड़ी आलोचना की। इस मुल्क के 'भेड़िया धसान' का ज़िक्र करते हुए व्यंग्य किया कि यह देश सिद्धों का है और जो बात जितनी नामुमकिन होती है, उतना ही उस पर विश्वास करने की प्रवृति यहाँ पाई जाती है। "हस्तचालन और नखदर्पन का बाजे लड़के भी दावे रखते होंगे और कोई ऐसा मुहल्ला या गाँव न होगा, जिसमें कोई पीर-फकीर, सिद्ध-जोगी व तंत्र-मंत्र का जाननेवाला न निकले।" दस रुपए में सोसायटी का सदस्य बनकर कर्नल अल्काट से प्राचीन हिन्दूधर्म का ज्ञान प्राप्त करनेवालों के अंतर्विरोधों को उजागर करते हुए उन्होंने कहा—"क्या तमाशा हैं कि हमारे नौजवान, नवीन शिक्षित, यूनिवर्सिटी के ग्रेज्युएट इधर तो कन्वेण्टेड सिविल सर्विस अर्थात् कलक्टर और कमिश्नर के उहदों के लिए सिर फोड़ते हैं, प्राण देते हैं, उधर कर्नल अल्काट से दस रुपए पर ब्रह्मविद्या मोल लेना चाहते है।" थियोसॉफ़ी के मुक़ाबले *मनुस्मृति* को आगे

---

1. *अनुभ्रमोच्छेदन*, पृ. 18

करते हुए उन्होंने अल्काट के देश अमेरिका (पाताल लोक) का संकेत करते हुए कहा, ''हिन्दुओ! तुम अपना कर्म-धर्म खोजने को पाताल में मत जाओ, आकाश की ओर देखो। वहाँ ही से उतरा यह ग्रंथ *मनुस्मृति* मौजूद है—लो, देखो, पढ़ो और इसी के अनुसार चलो, चलावो।'' सभा में नए बने थियोसॉफ़िस्टों और अपने विरोधियों द्वारा 'हूट' किए जाने पर भी शिवप्रसाद डटे रहे। अपने लेक्चर के अंत में उन्होंने दूसरे नए धार्मिक आंदोलनों की भी आलोचना की। उन्होंने देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचंद्र सेन और दयानंद, तीनों का नाम लेकर उनकी निन्दा की। देवेन्द्रनाथ ठाकुर से कलकत्ते की ब्रह्मसभा में हुई मुलाक़ात और बातचीत का ज़िक्र करते हुए उन्होंने उनका मख़ौल उड़ाया कि ये ब्रह्मसमाजी वेद और वैदिक ग्रंथों में से जो रुचता है, वह ले लेते हैं और जो न रुचे, उसे छोड़ देते है—''यह तो वही मसल हुई कि कुरान में लिखा है 'मत पढ़ो तुम नमाज़ जब हो शराब के नशे में'—बे-नताओं ने इतना ही याद कर लिया कि मत पढ़ो तुम नमाज, 'अंत मुसुकारा' को बिल्कुल छोड़ दिया।'' केशवचंद्र सेन की आलोचना करते हुए कहा कि इन्होंने शब्द प्रमाण की उतनी अटक भी छोड़ दी, ''इंट्यूशन का सहारा ले लिया, जिसके अर्थ मैं यही लगाता हूँ कि जो जी चाहे, वह उसका अर्थ अनुभव बताते हैं। मेरी समझ में उनके इंट्यूशन और वेदांतियों के अनुभव में वैसा ही भेद है, जैसे ब्रह्म और ब्रह्मज्ञानियों में।'' दयानंद सरस्वती की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा कि ''स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेदों का डंका बजाया, लेकिन जब मैंने उनको यहाँ एक माननीय मुसलमान दोस्त के मकान पर तीस-चालीस मुसलमानों के सामने वेद पर लेक्चर देते और वेद पढ़ते देखा और सुना (तो) ईश्वर की माया याद आई!'' शिवप्रसाद ने यहाँ जिस मुसलमान दोस्त का ज़िक्र किया है, वह सैयद अहमद थे। सैयद अहमद ख़ुद एक बड़े धर्म सुधारक थे और कई मुद्दों पर उनके और दयानंद के विचार एक जैसे थे। जब सैयद बनारस के सदरआला थे, उनके घर पर हुई मुसलमानों की एक सभा में दयानंद ने वेदों पर व्याख्यान दिया, ताकि मुसलमान भी वैदिक धर्म के महत्त्व को समझ सकें। वहाँ शिवप्रसाद ने पहली बार दयानंद को दूर से देखा। हालाँकि शिवप्रसाद ने धर्म को मनुष्य के अंत:करण की पवित्र भावना मानकर, उसके बाहरी आडंबरपूर्ण आचरण और उससे उपजे दंभ की निरर्थकता को दिखाते हुए 'राजाभोज का सपना' जैसी प्रभावशाली कहानी लिखी थी, लेकिन धर्मशास्त्र ख़ुद भी कई मिथ्या विश्वासों और धारणाओं को प्रचारित करते हैं—इसे वे कभी समझ नहीं सके। ख़ुद इन शास्त्रों को उन्होंने कभी चुनौती नहीं दी। यह साहस दयानंद में था। *मनुस्मृति* से आगे कुछ भी न देख पाने वाले शिवप्रसाद धर्म के मामले में बाक़ी सनातनियों जैसे ही रूढ़िवादी थे। वे दयानंद के इस क्रांतिकारी रूप को स्वीकार नहीं कर पाए कि वेद मुसलमानों समेत मनुष्यमात्र के सामने रखे जाने चाहिए। शिवप्रसाद इस पुरानी धारणा में विश्वास करते रहे कि वेदों के मंत्र मलेच्छों के हाथों में नहीं पड़ने चाहिए।

उस वक़्त के दूसरे हिन्दी लेखकों की ही तरह धार्मिक मामलों में नवजागरण के विरोधी होने के बावजूद शिवप्रसाद, उन्हीं की तरह, कुछ सामाजिक सुधारों के पक्षधर थे। वे बनारस इंस्टीट्यूट के प्रमुख सदस्यों में थे। यह संस्था तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम शिक्षित भद्रवर्ग की मुख्य बौद्धिक संस्था थी जिसकी बैठकों में सामाजिक प्रगति और सुधार से संबंधित विषयों पर परचे पढ़े जाते थे और उन पर विचार-विमर्श होता था। इसमें अंग्रेज़ विद्वान भी भाग लेते थे। सभा की रपटें अख़बारों और *कविवचन सुधा* जैसी पत्रिकाओं में छपती थीं। भरतपुर रियासत में नौकरी करते हुए शिवप्रसाद ने राजस्थान के राजपूतों के बीच फैली कुछ एक बुरी प्रथाओं को देखा था। उन दिनों रघुवंशी राजपूतों में लड़कियों को जन्मते ही मार देने की बर्बर प्रथा ज़ोरों से प्रचलित थी, जिसे उठा देने के कई प्रयत्न किए गए थे। 'राजपूत सभा' ने इसके लिए कुछ आंदोलन किया था, अंग्रेज़ी शासन ने भी उनके आंदोलन की मदद की, लेकिन सफलता नहीं मिली। शिवप्रसाद ने इस प्रथा की बर्बरता और अनैतिकता को महसूस किया और इसके ख़िलाफ़ 'वीर सिंह का वृत्तांत' कहानी लिखी। कहानी इस प्रथा की बर्बरता का एहसास कराने और इसे ख़त्म करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से लिखी गई थी। इस दृष्टि से यह आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक सुधारों के लिए सोद्देश्य साहित्य लेखन की पहली रचना थी। इसमें वीर सिंह नाम का एक रघुवंशी राजपूत है, जिसके पुरखे तो संपन्न थे, पर वह दरिद्र हो गया था । उसने एक केतकी राजपूतनी से विवाह किया। उससे जब बेटी पैदा हुई तो स्त्री के रोकने, गिड़गिड़ाने के बावजूद वीर सिंह ने यह कहते हुए उसका वध कर दिया कि "हम लोग रघुवंशी कन्या नहीं पालते और कभी किसी के साले-ससुरे नहीं कहलाते।" जब बेटा पैदा हुआ तो उसका नाम सुमतचंद रखा। कुछ बड़े होने पर सुमतचंद को पता चला कि उसकी माँ रघुवंशी नहीं है, क्योंकि रघुवंशी तो जन्मते ही अपनी बेटियों को मार डालते हैं। इस पर उसने कन्यावध की निन्दा करते हुए पिता से ख़ूब बहस की। वीर सिंह ने तर्क तो बहुत दिए, पर मन में दुःख भी हुआ कि काश, मैंने अपनी बेटी न मारी होती। भाईदूज का पर्व आया तो सुमतचंद उदास हो गया, क्योंकि दूसरों की तरह उसकी कोई बहन न थी। वीर सिंह ने अपने मन के द्वंद्व का निराकरण करने के लिए एक दिन एक पंडित से पूछा कि लड़की के प्राण हरने से क्या परलोक बिगड़ता है ? पंडित ने शास्त्रों से कई हवाले देकर बतलाया कि कन्यावध घोर पाप है! आगरे से आए एक मुसलमान ने भी बतलाया कि वहाँ मजिस्ट्रेट ने कन्या का वध करने वाले तीन आदमियों को फाँसी की सज़ा दी है। यह सुनकर वीर सिंह डर गया और मन ही मन कहने लगा कि इस बार ईश्वर पुत्री दे तो ऐसा अपराध कभी न करूँगा। अब उसके दिल में कन्यावध का पाप दिन-रात खटकने लगा। न नींद आती, न भूख लगती। जब मौत का दिन आया तो उसकी आँखों के आगे वही लड़की, वही तलवार और धरती पर बह रही रक्त की धारा सजीव हो उठी। वैद ने बहुत

इलाज किया, पर दवा ने कुछ भी काम न किया। अंत में ''वेदना उसकी और बढ़ी। छटपटा-छटपटा कर दो-तीन घड़ी में वीर सिंह ने उस पापी शरीर को त्याग दिया। आगे उसका वृत्तांत परमेश्वर जानें।''

शास्त्रों से उद्धृत बहुत सारे संस्कृत श्लोकों से बोझिल और गतिहीन हो जाने के बावजूद कहानी का यह दु:खांत मार्मिक और प्रभावशाली ही नहीं, यथार्थवादी भी है। सामाजिक सुधार के उद्देश्य से लिखी जाने के बावजूद कहानी में वीरसिंह को सुधार कर एक सुखद अंत नहीं दिखाया गया, बल्कि उसकी जगह उसे अपराध बोध की पीड़ा और नैतिक यातना से ग्रस्त होकर तिल-तिल कर मरते हुए दिखाया गया।

बाल-विवाह, बहु-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा जैसे सामाजिक प्रश्नों पर उन्होंने अलग से कुछ नहीं लिखा। इसकी वजह शायद यह थी कि उनकी सभी रचनाएँ पाठ्यपुस्तकों के रूप में थीं। लेकिन पाठ्यपुस्तकों में जहाँ भी मौक़ा मिला या मौक़ा निकाल सके, उन्होंने सामाजिक समस्याओं पर अपने विचार ज़रूर रखे। मसलन *इतिहासतिमिरनाशक* के तीसरे खंड में मध्यकालीन मुस्लिम शासन के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ी शासन की तारीफ़ करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा, उससे ऊपर के सामाजिक प्रश्नों पर उनका रुख़ क्या होता, इसका अंदाज़ा लगाया जा सकता है। भारत में अंग्रेज़ों के आने से पहले के सामाजिक इतिहास पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा—''ब्राह्मणों की स्वार्थनिष्ठा ने आर्यों को वैदिक से बौद्ध बनाया, बौद्धों ने ऐसा धर्म चलाया कि क्षत्रियों को बनिया कर दिखलाया। मुसलमानों की बेरहमी, सख़्ती, ज़बर्दस्ती और ऐशपरस्ती ने दोनों को डुबाया। लड़कियों को मारने लगे, औरतों को पर्दे में रखने लगे, मुसलमानों से बचने को चौका-चूल्हा और छुआछूत का अत्यंत विचार करने लगे, ख़ुशामद के लिए झूठ बोलना भी सीखना पड़ा। इनका अब मजहब ही इस तरह का हो गया कि अक्सर बेकाम रहने लगे और यह बिगड़ने का पहला जीना है। जात का बराव न घर में तरक़्क़ी होने देता है, न बाहर से तरक़्क़ी को आने देता है। जहाँ बादशाह ख़ुदमुख़्तार शुतुरबेमुहार होता है, मुवानसत में हर्गिज़ तरक़्क़ी नहीं होती, किसी तरह की सभ्यता उन्नति को नहीं पहुँचती। जो लोग अपनी माँ को अपने बाप की लाश के साथ अपने हाथ से जीती जला दें, जो लोग कन्या को होते ही मार डालें, जो लोग सैकड़ों स्त्रियों से विवाह करें और उन्हें क़ैदियों की तरह घर में बंद रखें, जो लोग अपने हमज़िन्स को लड़ाई ही में नहीं वरन दुकानों में रखकर भेड़-बकरी की तरह बेचें—हम नहीं जानते कि उन्हें किस दर्जे का सभ्य बतलावें। हम तो उन्हें शायद आदमी कहने में भी शर्मावें।''[1]

इन पंक्तियों में सामाजिक रूढ़ियों और प्रथाओं की खुलकर निन्दा की गई है। फिर

---

1. *इतिहासतिमिरनाशक,* खंड III, पृ. 118.

भी, इस आलोचना में दो-एक बातें ग़ौरतलब हैं। सामाजिक रूढ़िवाद की यह आलोचना प्रभावशाली तो है, पर इसके अंदर से मुस्लिम विरोधी राजनीति भी झाँक रही है। दूसरी ओर, अंग्रेज़ी शासन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का आधार भी जुटा लिया गया है। ख़ुद शिवप्रसाद ने इन्हें अपने आचरण में कितना उतारा या मौक़ा पड़ने पर इन कुप्रथाओं के ख़िलाफ़ सक्रिय हस्तक्षेप किया या नहीं, इसकी जानकारी हमें नहीं मिलती। दरअसल पश्चिमोत्तर प्रांत के शिक्षित भद्रवर्ग के ज़्यादातर बुद्धिजीवियों में समाज सुधार को लेकर ऐसा कोई आवेग नहीं था जो उनके निजी जीवन में भी हिलोरें पैदा कर दे। वे बुराइयों के लिए समाज को कोसते थे, लेकिन ख़ुद उनसे लड़ने के लिए सक्रिय कम ही होते थे।

यह ग़ौरतलब है कि शिवप्रसाद ने थॉमस डे की कुछ कहानियों का अनुवाद करके *सैण्डफ़ोर्ट और मरटन* नामक संकलन संपादित किया था। थॉमस डे अठारहवीं सदी में हुए एक अंग्रेज़ समाज सुधारक थे, जो अमीर-ग़रीब के बीच सामाजिक ग़ैर-बराबरी के ख़िलाफ़ और उस वक़्त अमेरिका में प्रचलित दासप्रथा के ख़िलाफ़ लड़नेवालों में अगुआ थे। इस सामाजिक बुराइयों के ख़िलाफ़, ख़ासकर दासप्रथा के ख़िलाफ़, लोगों में नैतिक चेतना जगाने के उद्देश्य से उन्होंने व्यापक पैमाने पर साहित्यिक लेखन कार्य किया था, जो 15 खंडों में प्रकाशित हुआ। उन्हीं में से कुछ चुनी हुई कहानियों का अनुवाद शिवप्रसाद ने किया। अनुवाद के लिए थॉमस डे जैसे महान् सुधारक की कहानियों को चुनना सामाजिक सुधार चेतना की दृष्टि से अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण था। अमरीकी संदर्भ में जो जगह दासप्रथा की थी, वही जगह भारतीय संदर्भ में शूद्रों की थी। *मनुस्मृति* के प्रशंसक होने के बावजूद शिवप्रसाद ब्राह्मणों के वर्चस्व के ख़िलाफ़ थे। ऐसा शायद उनकी जैन पृष्ठभूमि के कारण था। उनके समय में जैन और बौद्धधर्म के इतिहास की जानकारी कम होने के कारण इन दोनों के बीच का फ़र्क़ अभी साफ़ नहीं था। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखे साहित्य की खोज का काम अभी चल रहा था जिसमें हरमन याकोबी और कई दूसरे यूरोपीय विद्वान जुटे हुए थे। शिवप्रसाद इनकी खोज में दिलचस्पी रखते थे। यही वजह है कि उन्होंने *इतिहासतिमिरनाशक* में बौद्धधर्म के उत्थान को ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ शूद्रों के उभार के साथ जोड़कर देखा और उसका समर्थन किया। वे उन्नीसवीं सदी के एकमात्र हिन्दी-लेखक थे, जिन्होंने बौद्धों की ब्राह्मणवाद विरोधी परंपरा पर ध्यान दिया था।

7
नागरी लिपि का आंदोलन

उन्नीसवीं सदी में पश्चिमोत्तर प्रांत में जिस एक आंदोलन ने युगांतरकारी भूमिका अदा की, वह नागरी लिपि का आंदोलन था। अदालतों की भाषा यानी सरकारी कामकाज की भाषा में फ़ारसी की जगह नागरी लिपि लागू करने की माँग ने इस प्रांत की राजनीतिक दिशा पर जबर्दस्त प्रभाव डाला। हिन्दी भाषा-साहित्य के इतिहास लेखन में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का श्रेय तो राजा शिवप्रसाद को दिया गया है और इस मामले में रामचंद्र शुक्ल ने भी उनकी सराहना की है, लेकिन नागरी लिपि के आंदोलन में उनकी युगप्रवर्तक भूमिका पर चुप्पी साध ली गई। भाषा-साहित्य के इतिहास लेखन में राजा शिवप्रसाद के साथ क़िए गए अन्याय की इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के दुरुस्त करने की ज़रूरत है।

1837 ई. में भारत के सभी प्रांतों में प्रांतीय भाषा को सरकारी काम-काज की भाषा बनाने का निश्चय सरकार ने किया। उस वक़्त पश्चिमोत्तर प्रांत में हिन्दुस्तानी को राजभाषा बनाया गया जो दरअसल कठिन अरबी-फ़ारसी शब्दावली से भरी उर्दू थी। उसकी लिपि, प्रांत की राजनीति में मुसलमानों के प्रभाव के कारण, फ़ारसी लिपि ही रखी गई। इस लिपि से सरकारी कर्मचारी परिचित थे लेकिन आम लोगों के लिए और ज़्यादातर हिन्दुओं के लिए यह कठिन और अनजान थी। इससे कई तरह की समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। इस लिपि के कारण सरकारी नौकरियों पर भद्रवर्गीय मुसलमानों और कायस्थों का वर्चस्व क़ायम रहा, लेकिन दूसरी जातियों के शिक्षित हिन्दुओं को, जो इस लिपि से अनजान थे, सरकारी नौकरी में प्रवेश पाना मुश्किल बना रहा। इस हालत को बदलने के लिए अदालती भाषा की लिपि को बदलना ज़रूरी था। अगस्त, 1868 में राजा शिवप्रसाद ने सरकार को एक मेमोरेण्डम दिया—मेमोरेण्डम : कोर्ट कैरेक्टर इन दी अपर प्रोविंसेज ऑफ़ इंडिया। इसमें पहली बार अदालती भाषा को नागरी लिपि में लिखे जाने की माँग की गई। एक अध्येता ने लिखा है कि उससे कुछ महीने पहले भी, जनवरी 1868 में, शिवप्रसाद ने एक मेमोरेण्डम सरकार को दिया था। पहले और दूसरे मेमोरेण्डम के बीच फ़र्क़ बताते हुए अध्येता ने लिखा है—''इन्होंने अपने प्रथम मेमोरेण्डम में लिपि के प्रश्न पर फ़ारसी या देवनागरी, दोनों में से किसी एक लिपि को अपनाने का विचार दिया था, लेकिन दूसरे मेमोरेण्डम में इन्होंने सिर्फ़ देवनागरी लिपि की ही वकालत की। प्रथम मेमोरेण्डम में इन्होंने कहा था कि जनता को कोर्ट की भाषा (उर्दू) सीखनी चाहिए, लेकिन

दूसरे मेमोरेण्डम में इन्होंने कहा कि कोर्ट की भाषा जनता की भाषा (हिन्दी) होनी चाहिए।''[1]

इससे लगता है कि नागरी लिपि को लेकर शिवप्रसाद के मन में पहले कुछ दुविधा रही थी, जिसे उन्होंने जल्द ही दूर कर लिया और कुछ ही महीनों के अंदर दूसरा मेमोरेण्डम देकर अपनी माँग को दृढ़ता और स्पष्टता के साथ रखा। हालाँकि शिवप्रसाद अदालती भाषा की कठिन अरबी-फ़ारसी शब्दावली के सख़्त विरोधी थे, फिर भी अपने मेमोरेण्डम में उन्होंने उर्दू और हिन्दी को अलग-अलग भाषा नहीं माना और ज़ोर सिर्फ़ लिपि को बदलने पर दिया। मेमोरेण्डम में उन्होंने लिखा कि बाहर से आए मुसलमान शासकों ने यहाँ की भाषा को अपनी सुविधा के लिए फ़ारसी लिपि में लिखना शुरू किया था, जिसके वे पहले से आदी थे। लेकिन यहाँ की जनता ने फ़ारसी लिपि को कभी नहीं अपनाया। जनता के बीच हमेशा नागरी लिपि ही चलती रही। लिहाज़ा ''अदालतों की भाषा से फ़ारसी लिपि को हटा दिया जाए और उसकी जगह हिन्दी (नागरी) लिपि को लागू किया जाए।''

इस मेमोरेण्डम ने बड़े दूरगामी असर डाले। मेमोरेण्डम से जिस नागरी आंदोलन की शुरुआत हुई, उसने पश्चिमोत्तर प्रांत की भावी राजनीतिक दिशा तय कर दी। इसके बाद नागरी लिपि को लेकर जितने भी आंदोलन हुए और जितने भी मेमोरेण्डम सरकार को दिए गए, सबमें उन्हीं बुनियादी तर्कों को दोहराया और विस्तार दिया गया, जिन्हें पहली बार शिवप्रसाद ने अपने मेमोरेंडम में दिया था। अपने मेमोरेण्डम में शिवप्रसाद ने नागरी लिपि और हिन्दी भाषा को हिन्दू जातीयता के साथ जोड़कर एक सांप्रदायिक चरित्र दे दिया था। आगे आने वाले आंदोलन में भी यह सांप्रदायिक चरित्र जारी रहा। मेमोरेण्डम का राजनीतिक सारतत्त्व यह था कि इसने पश्चिमोत्तर प्रांत में भद्रवर्ग के अंदर हिन्दू-मुस्लिम शक्ति संबंधों के समीकरण को बदलने की गंभीर शुरुआत की। अदालती लिपि के सवाल को इसने भद्रवर्गीय हिन्दू-मुसलमानों के बीच होड़ का ऐसा मुद्दा बना दिया कि जिससे शिक्षित हिंदू-मुसलमानों के साँझे भद्रवर्ग में दरार पड़ गई और वे लिपि के सवाल पर अपने-अपने धर्म के आधार पर गोलबंद होने लगे। जिन संस्थाओं में हिन्दू ज़्यादा प्रभावशाली स्थिति में थे, जैसे इलाहाबाद और बनारस इंस्टीट्यूट में, वहाँ लिखित कार्यवाही अब फ़ारसी की जगह नागरी में करने की माँग उठ खड़ी हुई। इस माँग से मुस्लिम भद्रवर्ग सहमत नहीं हुआ। सिर्फ़ एक साल पहले 1867 में सैयद अहमद ने पश्चिमोत्तर प्रांत में

---

1. उमेशनंदन सिन्हा, हिन्दी के उन्नायक और रक्षक राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द', *नागरीप्रचारिणी सभा पत्रिका*, अंक ? यह मेमोरेण्डम मेरे देखने में नहीं आया और इसका ज़िक्र किसी और ने नहीं किया है।

देशी भाषा के माध्यमवाला एक विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव सरकार को भेजा था। उस पर सरकार ने पूछा था कि पश्चिमोत्तर प्रांत की देशी भाषा कौन-सी है ? इससे बहस छिड़ गई कि इस प्रांत की देशी भाषा उर्दू को माना जाए या हिन्दी को ? इस बहस ने भद्रवर्ग के हिन्दू-मुसलमानों के बीच विरोध और तनाव पैदा किया। अब एक और बहस लिपि की उठ खड़ी हुई। इससे सरकारी पदों पर बैठे भद्रवर्गीय मुसलमानों की आर्थिक-राजनीतिक हैसियत का भविष्य आशंकाओं से घिरने लगा। इसके अलावा, मेमोरेण्डम में शिवप्रसाद ने हिन्दी और नागरी का खास संबंध हिन्दू जातीयता की भावना से जोड़ दिया था। ज़ाहिर है कि तब उर्दू भाषा और लिपि का संबंध मुस्लिम जातीयता से जुड़ता। धर्म, भाषा और लिपि पर आधारित जातीयता की दोनों भावनाओं में बहुत-से अंतर्विरोध थे, मिथ्या चेतना थी। इसके बावजूद दोनों जातीयताओं की भावना एक ही प्रांत के अंदर, एक साथ पनपने लगीं, जिसने आगे चलकर सांप्रदायिक बँटवारे को और मज़बूत किया।

लिपि की माँग को पूरे धार्मिक समुदाय की पहचान के सवाल से जोड़कर शिवप्रसाद ने एक गंभीर ग़लती की, अन्यथा नागरी लिपि संबंधी उनकी माँग व्यापक आधार पर खड़ी एक लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष माँग थी। वह जनसाधारण की और उत्पीड़ित वर्गों की आकांक्षा को व्यक्त करती थी। अदालती भाषा की लिपि नागरी हो—अपनी इस माँग पर शिवप्रसाद आजीवन अडिग रहे। रिटायर हो जाने के बाद 1882 में हंटर कमीशन के सामने गवाही देते हुए उन्होंने अदालतों में नागरी लिपि लागू करने की अपनी माँग को दोहराया। उन्होंने सरकार का ध्यान इस ओर खींचा कि सरकारी कामकाज नागरी लिपि में नहीं होने से कैसे-कैसे अंतर्विरोध पैदा होते हैं। उससे न प्रांत का विकास हो पाता है, न सार्वजनिक शिक्षा का। यह ज़रूरी है कि जो लिपि सार्वजनिक शिक्षा की हो, वही सरकारी कामकाज की भी हो वर्ना सार्वजनिक शिक्षा का विकास नहीं हो पाएगा। हंटर कमीशन से उन्होंने कहा कि पश्चिमोत्तर प्रांत के मुक़ाबले बंगाल की उन्नति का कारण यही है कि वहाँ एक ही जातीय लिपि अदालतों, दुकानों, महलों, खेतों, शहरों और गाँवों में चलती है। शिवप्रसाद ने लिपि के सवाल को भाषा के सवाल से अलग रखने पर ज़ोर दिया। उन्होंने कमीशन से कहा कि झगड़ा उर्दू-हिन्दी का नहीं, लिपि का है। अदालती भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दाडंबर के विरोधी होने के बावजूद उस दौर में अपनी माँग को उन्होंने लिपि के सवाल तक ही सीमित रखा। भाषा का सवाल यह कहकर नहीं उठाया कि उर्दू और हिन्दी एक ही ज़ुबान है, दो अलग-अलग ज़ुबानें नहीं है। यही वजह है कि भारतेन्दु मंडली द्वारा छेड़े गए उर्दू विरोधी आंदोलन को उन्होंने अपना समर्थन नहीं दिया। उन्होंने कहा कि इससे लिपि बदलने की लड़ाई कमज़ोर होगी। क्या शिवप्रसाद सही थे ? इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि 1882 में पश्चिमोत्तर प्रांत के 118 शहरों से हंटर कमीशन को जो सैकड़ों मेमोरियल मिले, उनमें से ज़्यादातर अदालती भाषा की सिर्फ़ लिपि को बदलने की

माँग करते थे। नागरीप्रचारिणी सभा ने जब 1897 में मदनमोहन मालवीय के नेतृत्त्व में लेफ़्टिनेंट गवर्नर मैकडॉनल्ड को मेमोरेण्डम दिया, तो उसमें भी सिर्फ़ लिपि को ही बदलने की माँग की गई। 32 साल तक रुक-रुककर चले इस आंदोलन के फलस्वरूप 1900 ई. में सरकार ने अदालतों में फ़ारसी लिपि के साथ-साथ नागरी लिपि के इस्तेमाल की भी इजाज़त दे दी। नागरी आंदोलन की यह एक बड़ी जीत थी। लेकिन भारतेन्दु और हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस आंदोलन के प्रवर्त्तक राजा शिवप्रसाद को उनकी ऐतिहासिक भूमिका का वाजिब श्रेय नहीं दिया। उल्टे उन पर उर्दूपरस्ती का इल्ज़ाम लगाकर उनकी उपलब्धियों पर भी बदनामी की चादर डाल दी गई।

8

स्कूली पाठ्यपुस्तकों की भाषा समस्या

राजा शिवप्रसाद से जुड़ा हिन्दी-उर्दू भाषा विवाद मुख्यत: उनकी बनाई पाठ्यपुस्तकों की भाषा को लेकर है। इस समस्या को समझने के लिए ज़रा उस जमाने की भाषाई स्थिति की कल्पना करनी चाहिए, जहाँ कठिन अरबी-फ़ारसी शब्दावली से भरी हुई उर्दू सरकारी कामकाज की भाषा थी। उच्च शिक्षा भले ही अंग्रेज़ी में मिलती हो, लेकिन शिक्षा और ज्ञान-प्राप्ति का आम माध्यम परंपरा से चली आ रही फ़ारसी के अलावा अब मुख्य रूप से फ़ारसी लिपि में लिखी जानेवाली उर्दू थी। समाज का प्रभावशाली भद्रवर्ग, ख़ासकर सरकारी दफ़्तरों से जुड़ा शहरी भद्रवर्ग, उर्दूभाषी था। इस भद्रवर्ग में हिन्दू और मुसलमान, दोनों थे। सार्वजनिक मंचों पर उर्दू की संस्कृति छाई हुई थी। उसके मुक़ाबले हिन्दी सरकारी दफ़्तरों से बाहर के लोगों की भाषा थी, कम शिक्षित व्यापारियों और कुछ भूस्वामियों की भाषा थी या फिर अशिक्षित और गँवारों की भाषा थी। इस माहौल में राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का संघर्ष किया था। पर हिन्दी में आधुनिक विषयों को पढ़ाने लायक़ किताबें कहाँ थी ? इन किताबों को अभी तैयार किया जाना था। इतिहास, भूगोल और विज्ञान की बननेवाली पहली पाठ्यपुस्तकों में भाषा का स्वरूप कैसा हो ? इसके लिए हिन्दी का एक मानक रूप तैयार करने की समस्या थी। उस समय हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों की भाषा में जनपदीय बोलियों के शब्द काफ़ी संख्या में अपने उच्चारण समेत चले आते थे। भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट जैसे समर्थ लेखकों की हिन्दी में भी धाय-धाय और ठौर-ठौर जैसी शब्दावली मिल जाती है। साहित्यिक हिन्दी कहीं संस्कृतनिष्ठ होती, तो कहीं उसमें ब्रजी का मिश्रण होता, कहीं अवधी या भोजपुरी का। फिर मानक हिन्दी कैसे बनती ? देहाती शब्दों से भरी हिन्दी क्या शिक्षित वर्ग की अभिरुचियों के अनुसार होती ? सार्वजनिक शिक्षा और सार्वजनिक कार्यक्रमों के लिए उपयुक्त होती ? इन सबके उल्टे उर्दू एक ऐसी नफ़ीस भाषा में ढल चुकी थी जहाँ भाषा की शुद्धता के अलावा एक-एक शब्द के प्रयोग की परंपरा पर ध्यान दिया जाता था। इसके मुक़ाबले शिवप्रसाद को पाठ्यपुस्तकों में न सिर्फ़ ऐसी हिन्दी लिखनी थी, जो स्कूली बच्चों के लिए सरल और स्पष्ट हो, बल्कि वह उर्दू की टक्कर में अपने सौन्दर्य और अभिव्यक्ति की क्षमता को भी स्थापित कर सके।

इन परिस्थितियों के बीच राजा शिवप्रसाद ने स्कूली किताबों की भाषा का स्वरूप ऐसा रखा, जो शिक्षित वर्ग की अभिरुचि के मेल में हो, साथ ही वह मामूली लोगों की भी समझ में आ जाए। अपनी एक पाठ्यपुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा—''हमलोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आमफ़हम और ख़ासपंसद हों अर्थात् जिनको ज़ियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े-लिखे, आलिमफाज़िल, पंडित, विद्वान की बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैरमुल्क के शब्द काम न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल क़ायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए।''[1] इस प्रसंग में रामविलास शर्मा ने शिवप्रसाद की व्यंग्यपूर्ण आलोचना करते हुए लिखा कि वे शिक्षित भद्रवर्ग की अभिरुचियों के शिकार थे। शिवप्रसाद ने प्रारंभिक पाठ्यपुस्तकों के लिए भाषा का जो स्वरूप तय किया, उसके विरोध की परंपरा पुरानी है। हालाँकि रामविलास शर्मा को इस बात का श्रेय ज़रूर मिलना चाहिए कि शिवप्रसाद की भाषा के कुछ सकारात्मक पक्षों को पहली बार उन्होंने ही खुलकर सराहा था। लेकिन आख़िरकार वे भी घूम-फिर कर विरोध की उसी परंपरा में लौट जाते हैं। वास्तव में शिवप्रसाद की भाषा नीति अपने समय की वास्तविकता के ज़्यादा क़रीब थी। यह कहना बेकार है कि वे शिक्षित भद्रवर्ग की रुचियों से ग्रस्त थे। दरअसल यह भद्रवर्ग ही था—न सिर्फ़ शहरों में, बल्कि गाँवों में भी, जिनके बच्चे स्कूलों में शिक्षित हो रहे थे। शिवप्रसाद की विशेपता इस बात में नहीं थी कि उन्होंने भद्रवर्ग की रुचियों के मुताबिक़ भाषा लिखी, बल्कि इसमें थी कि उन्होंने भद्रवर्गीय रुचियों का अतिक्रमण करके उसे व्यापक बनाया। उन्होंने सिर्फ़ ख़ासपसंद का ही ध्यान नहीं रखा, बल्कि आमफ़हम पर भी जोर दिया था। अगर वे सिर्फ़ शिक्षित भद्रवर्ग की रुचियों के शिकार होते तो उर्दू की जगह हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए संघर्ष क्यों करते? अपनी बनाई पाठ्यपुस्तकों में, जैसे *भूगोलहस्तामलक* और *विद्यांकुर* में उन्होंने जो भाषा लिखी, क्या वह भद्रवर्गीय रुचियों की शिकार है? सच्चाई यह है कि *भूगोलहस्तामलक* और *विद्यांकुर* की भाषा आज भी स्कूली किताबों के लिए साफ़-सुथरी, आसान और प्रवाहपूर्ण हिन्दी का आदर्श मानी जा सकती है। *भूगोलहस्तामलक* की भाषा का नमूना यह है—

''यह पानी, जिसमें दो तिहाई अधिक पृथ्वी ढँकी हुई है, समुद्र अथवा सागर कहलाता है, खारा सब जगह है लेकिन कहीं कम, कहीं ज़्यादा। थाह उसकी सवा पाँच मील तक तो मालूम हो सकी है, परंतु गहरा यह कहीं-कहीं इससे भी अधिक है। लहरें उसकी बाईस फुट तक ऊँची नापी गई हैं। यद्यपि इस भूमंडल पर एक ही है, पर जैसे

---

1. रामचंद्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, ना. प्र. सभा, काशी, संवत 2042, पृ. 300 पर उद्धृत

हवेलियों का ठिकाना मिलने के लिए शहर को महल्लों में बाँट देते है, वैसे ही समुद्र में द्वीप और जहाज़ों का सहज से पता लग जाने के वास्ते उसके पाँच हिस्से करके पाँच नाम रख दिए हैं।''

और *विद्यांकुर* की भाषा का नमूना— ''हड्डी वालों की चौथी किस्म मछली है। वो पानी में रहती है। इनमें और ऊपर लिखी तीनों किस्मों में यह फर्क है कि वो तो फेफड़े से नाक और मुँह की राह साँस लेते है, और इनके फेफड़ा नहीं होता है। गले में दो छेद रहते हैं जिन्हें गलफड़ा कहते हैं और उन्हीं छेदों से साँस लेने का काम निकलता है। कोई-कोई मछलियाँ बहुत सुंदर बल्कि सुनहले, रुपहले रंग की होती है और आँखें भी उनकी निराले तौर की रहती हैं। जो हमारी-तुम्हारी-सी होती तो उनको पानी में कुछ न दिखलाई देता। ये बोलती नहीं और न इनके बनाने वाले ने इनको कान दिया, तो भी पानी के लगाव से ये आवाज मालूम कर लेती हैं।''

स्कूली किताबों के लिए इन नमूनों से बढ़कर अच्छी हिन्दी और क्या हो सकती है ? इस भाषा में पाँच विशेषताएँ दिखाई देती है—

1. स्थानीय देहाती शब्दों का कम से कम प्रयोग
2. संस्कृतनिष्ठ पंडिताऊ हिन्दी के प्रति अस्वीकार का भाव
3. ठेठ हिन्दी का ठाठ
4. उर्दू के प्रचलित शब्दों का सहज भाव से प्रयोग
5. वाक्य रचना व्याकरण सम्मत, स्पष्ट और सधी हुई।

शिवप्रसाद की भाषा पर सबसे बड़ा इल्ज़ाम उर्दूपरस्ती का लगाया जाता है। कई विद्वानों ने बेधड़क होकर लिखा है कि उनकी किताबों में सिर्फ़ अक्षर नागरी के होते थे, भाषा ख़ालिस उर्दू होती थी। शिवप्रसाद की भाषा के बारे में इससे बड़ा झूठ कोई दूसरा नहीं हो सकता। ऐसा आरोप लगानेवाले विद्वानों ने, लगता है, उनकी भाषा की जाँच-पड़ताल किए बिना ही, सिर्फ़ सुनी-सुनाई बातों पर ऐसा लिख डाला है। जिन लोगों ने शिवप्रसाद की बनाई किताबों को ध्यान से देखा है, जैसे रामचंद्र शुक्ल या लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, उन्होंने अपेक्षाकृत ज़्यादा ज़िम्मेदारी का परिचय दिया है। इन्होंने माना है कि शिवप्रसाद की बहुत-सी किताबों (*भूगोलहस्तामलक, विद्यांकुर* आदि) की भाषा चलती हुई सरल हिन्दी है। इन लोगों ने एतराज उनकी बाद की किताबों पर किया है। यह सच है कि उनकी बाद की किताबों की भाषा में उर्दूपन ज़्यादा दिखाई देता है। लेकिन ऐसी किताबें ज़्यादा नहीं हैं। सिर्फ़ दो-एक किताबों को आधार बनाकर शिवप्रसाद की भाषा पर उर्दूपरस्ती का इल्ज़ाम लगाकर उन्हें दरकिनार कर देने की कोशिश ग़लत है। यह उनके अंध विरोध की पुरानी परंपरा को ही जारी रखना होगा। उनकी जिस एक किताब की भाषा को लेकर सबसे ज़्यादा आरोप लगाए गए हैं, वह *इतिहासतिमिरनाशक* है। लेकिन सच बात तो यह है कि इस किताब की भाषा पर कोई एक ठप्पा लगाना मुश्किल है। इसमें कुछ

जगहों पर कठिन अरबी-फ़ारसी शब्दावली का इस्तेमाल हुआ है। लेकिन कई जगहों पर संस्कृत शब्दावली मिलती है। ज़्यादातर जगहों पर वही साफ़-सुथरी, प्रवाहपूर्ण, मुहावरेदार हिन्दी मिलती है, जो शिवप्रसाद की भाषा की ख़ास पहचान है। वास्तव में *इतिहासतिमिरनाशक* की भाषा उन्नीसवीं सदी के हिन्दी गद्य के बहुत ही निखरे हुए सक्षम रूप का उदाहरण है। भाषा का ऐसा प्रभावशाली रूप शिवप्रसाद के समकालीनों में तो क्या, उनके बाद आई पीढ़ी में भी नहीं दिखाई देता। मिसाल के तौर पर इसके आदि और अंत की भाषा देखिए। जब भारतेन्दु ने क़लम भी नहीं पकड़ी थी, तब यानी 1864 में पहली बार छपी इस किताब की प्रारंभिक पंक्तियों में इस प्रकार की हिन्दी मिलती है—

"क्या ऐसे भी मनुष्य हैं जो अपने बाप-दादा और पुरखों का वृत्तांत सुनना न चाहें और उनके समय में लोगों का चाल-चलन, व्यवहार, बनज ब्यौपार और राज दरबार किस ढब बर्त्ता जाता था और देश की क्या दशा थी, कब-कब, किस-किस तरह कौन-कौन से राजा बादशाहों के हाथ में आए और कौन-कौन से समय के फेर-फार में कहाँ-कहाँ इन्हें झेलने पड़े कि जिनसे ये कुछ के कुछ बन गए, इन सब बातों को जानने की इच्छा न करें ?"

क़रीब दस साल बाद, 1873 में छपे किताब के तीसरे खंड की अंतिम पंक्तियाँ हैं—

"बहुतेरे गोबर गणेश यह समझते हैं कि जिस तरह हिन्दू और मुसलमान चढ़कर गिरे, उसी तरह किसी दिन अंगरेज भी गिर जाएँगे, पर यह उनकी भूल है। अंगरेज तभी गिर सकते हैं जब उनमें फूट पैदा हो। सो यह उनकी विद्या और उनके मत, दोनों के विरुद्ध है। फूट और बैर इसी देश का मेवा है, ईसाइयों के ठंडे मुल्क में इसका अंकुर नहीं जमता।"

—ऐसी भाषावाली किताब पर सिर्फ़, कुछ-एक जगहों को दिखाकर, उर्दूपरस्ती का इल्ज़ाम लगाना कहाँ तक उचित है ?

शिवप्रसाद की भाषानीति का सही मूल्यांकन करने के लिए शिवप्रसाद के भाषा संबंधी प्रयत्नों के लक्ष्य को भी समझने की ज़रूरत है। देखना चाहिए कि स्कूली किताबें बनाते समय शिवप्रसाद के सामने कौन-सी समस्या थी, जिसके हल के लिए उन्होंने ऐसी भाषा-नीति अख़्तियार की ? उस नीति की आज भी कोई प्रासंगिकता है या नहीं ?

स्कूली किताबें तैयार करते समय शिवप्रसाद के सामने समस्या सिर्फ़ यही नहीं थी कि बच्चों को कैसे रोचक ढंग से, आसान भाषा में आधुनिक विषयों की शिक्षा दी जाए। उनके सामने एक सामाजिक समस्या भी थी, जो ज़्यादा कठिन थी। स्कूल में हिन्दू बच्चे थे और मुसलमान भी। ज़्यादातर हिन्दू बच्चे हिन्दी माध्यम से पढ़ते थे, मुसलमान बच्चे उर्दू माध्यम से। दोनों माध्यमों की लिपि अलग-अलग थी। शिवप्रसाद यह मानने को राजी नहीं थे कि लिपि अलग हो तो उनकी भाषा भी अलग-अलग होनी चाहिए। यही मूल समस्या थी। अपनी बुनियादी एकता के बावजूद आज हिन्दी और उर्दू न सिर्फ़ दो अलग-

अलग भाषाओं के रूप में स्थापित हो चुकी है बल्कि एक ही विषय को हिन्दी की किताब में अलग और उर्दू की किताब में अलग जुबान में पेश किया जाता है। समान विषय को पढ़नेवाले हिन्दीभाषी बच्चे उर्दू किताब की भाषा नहीं समझ पाते, उर्दूवाले बच्चे हिन्दी किताब की भाषा नहीं समझ पाते। इस स्थिति को मानने को शिवप्रसाद तैयार नहीं थे। उन्हें हैरानी थी कि एक शहर में एक ही मुहल्ले में रहनेवाले और एक ही क्लास में समान विषय पढ़नेवाले बच्चों की लिपि भले ही अलग हो, पर भाषा अलग-अलग कैसे हो सकती है? शिवप्रसाद चाहते थे कि एक ही दरज़े में एक जैसे विषय को पढ़नेवाले बच्चों की किताबें उर्दू में हो चाहे हिन्दी में, उनकी भाषा एक ही होनी चाहिए, जो उनकी जातीय (नेशनल) या प्रांतीय भाषा ही हो सकती है। स्कूली किताबों की भाषा ऐसी हो कि हिन्दू-मुसलमान, दोनों छात्र उसे अलग-अलग लिपि के बावजूद, समान रूप से समझ सकें। इसी लक्ष्य के मुताबिक़ उन्होंने अपनी किताबों में भाषा का आदर्श रखा, जिसमें हिन्दी और उर्दू, दोनों अपना अलगाव खोकर एक हो जाती है। आज हिन्दी और उर्दू माध्यम के बीच जितनी दूरी है, उतनी शिवप्रसाद के समय में नहीं थी। ऐसी नज़दीकी अपने आप पैदा नहीं हो गई थी। दूरी को ख़त्म करने और नज़दीकी क़ायम करने के लिए सचेत रूप से संघर्ष और परिश्रम करना पड़ा था। यह संघर्ष शिवप्रसाद बहुत शुरू से करते आ रहे थे। जब वे शिमला में थे, उन्होंने *मालूमात* और *भूगोल* नाम से दो छोटी किताबें तैयार की थीं। सबसे पहले इन्हीं किताबों में उन्होंने भाषा का वह सामान्य रूप पेश किया था, जिसमें हिन्दी—उर्दू का अलगाव नहीं था। पश्चिमोत्तर प्रांत के लेफ़्टिनेंट गवर्नर के कहने से शिक्षा विभाग के तत्कालीन निदेशक मि. रीड ने प्रयोग के तौर पर इन किताबों को मदरसों में पढ़ाने के लिए स्कूल के हिन्दी-उर्दू माध्यमवाले शिक्षकों को—पंडितों और मुंशियों को—सौंप दिया था। शिवप्रसाद ने लिखा है कि पढ़ाने के दौरान इन पंडितों और मुंशियों ने ''इसके हिन्दी संस्करणों से सभी फ़ारसी शब्दों को उखाड़ फेंका और उनकी जगह संस्कृत के शब्द रख लिए। इसी तरह उर्दू संस्करण से सभी संस्कृत शब्दों को उखाड़कर उनकी जगह फ़ारसी और अरबी के शब्द रख लिए गए।'' (भूमिका, *विद्यांकुर*) देशी जुबान से दो भाषायी रूप गढ़ने की ऐसी कोशिशों के ख़िलाफ़ पच्चीस सालों तक शिवप्रसाद संघर्ष चलाते रहे और शिक्षा विभाग के ऊँचे अफ़सरों को अपने तर्कों से आश्वस्त करने की कोशिश करते रहे। उनके इसी संघर्ष के फलस्वरूप आख़िरकार सरकार ने स्कूली किताबों की भाषा संबंधी उनके विचारों को अपनी मान्यता दे दी। इसी के नतीजे में बाक़ायदा प्रस्ताव पास कर 13 जून 1876 के सरकारी हुक्म नं. 15 ए के तहत पंडितों और मुंशियों के ऐसे पांडित्य पर रोक लगा दी गई और एक साँझी भाषा क़ायम करने की शुरुआत हुई।[1]

---

1. भूमिका, *विद्यांकुर*

स्कूली किताबों की भाषा का स्वरूप तय करने के सिलसिले में शिवप्रसाद के सामने एक समस्या और थी—पारिभाषिक शब्दावली की समस्या। शिवप्रसाद जिन किताबों को हिन्दी माध्यमवाले बच्चों के लिए तैयार करते थे, उन्हीं को उर्दू माध्यम वाले बच्चों के लिए भी तैयार करते थे। दोनों में लिपि का फ़र्क़ रहता था, लेकिन भाषा एक ही होती थी। लेकिन इसमें एक समस्या पारिभाषिक शब्दावली की आती थी। क्या दोनों माध्यमों में पारिभाषिक शब्दावली भी एक ही होगी? शिवप्रसाद ने इसका क्या हल निकाला? क्या उनके हल को सही माना जा सकता है?

इस सिलसिले में शिवप्रसाद ने *विद्यांकुर* की भूमिका में विचार किया है। *विद्याकुंर* समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान और जीव-विज्ञान की मिली-जुली किताब है। इसमें पारिभाषिक शब्दावली की समस्या एक मुख्य समस्या थी। इसमें शिवप्रसाद ने हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के लिए संस्कृत का सहारा लिया। जैसे तत्त्व, उद्‌भिज या वनस्पति, अमाशय, परमाणु, सरल रेखा, समकोण, न्यूनकोण, चतुर्भुज, वृत्त और शून्य आदि। कहने की ज़रूरत नहीं कि हिन्दी माध्यम के लिए शिवप्रसाद ने जो पारिभाषिक शब्द चुने, वे इतने सटीक हैं कि आज तक प्रयोग में चले आते हैं। इनकी जगह किसी दूसरे शब्द को चुनने की ज़रूरत महसूस नहीं होती। लेकिन उर्दू माध्यम के लिए शिवप्रसाद ने पारिभाषिक शब्द अरबी-फ़ारसी, ख़ासकर ज्ञान की भाषा अरबी से लिए। मसलन ऊपर दिए गए हिन्दी पारिभाषिक शब्दों की जगह उर्दू माध्यम में उन्होंने क्रमशः उन्सुर, नबातात, मेदअ, ज़र्रा, मुस्तक़ीम ख़त, जाबिया काइमा, हादः, मुरब्बा, दायरा और ख़ला शब्दों को रखा। *विद्यांकुर* की भूमिका में उन्होंने पूरी किताब में आए तमाम हिन्दी पारिभाषिक शब्दों की सूची देकर उनके उर्दू प्रतिरूपों को भी पेश किया, जिनका इस्तेमाल *विद्यांकुर* के उर्दू संस्करण *हकाइकुल मौजूदात* में किया गया। पारिभाषिक शब्दों के इस फ़र्क़ को छोड़कर हिन्दी-उर्दू माध्यम वाली किताबों की भाषा में और कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं रखा। कुछ एक जगहों पर उन्होंने किसी एक ही शब्द को चुना, जैसे गुरु के लिए उस्ताद, पाठशाला या मक़तब के लिए मदरसा, चेला, शिष्य या विद्यार्थी के लिए शागिर्द, इत्यादि या आदि के लिए वग़ैरह, अलगरज के लिए निदान और उज्व के लिए अंग। इन शब्दों को चुनने के पीछे क्या तर्क है, इसका भी उन्होंने विवेचन किया। इस प्रयत्न में कहीं-कहीं उनका संतुलन बिगड़ा है और उनका झुकाव अरबी-फ़ारसी की ओर हुआ है। पाठ्‌यपुस्तकों की रचना में कई बार उन पर शिक्षा विभाग के ऊँचे अफ़सरों का दबाव भी पड़ता था, जैसा कि हिन्दी व्याकरण के दूसरे संस्करण की भूमिका से पता चलता है। उस समय सरकार की नीति उर्दू के पक्ष में थी, ताकि मुसलमानों को संतुष्ट रखा जा सके। हिन्दी व्याकरण के दूसरे संस्करण की भूमिका में शिवप्रसाद ने बतलाया कि उनके पहले की लिखी कुछ किताबों में, जैसे *विद्यांकुर*, *बालबोध*, *भूगोलहस्तामलक* आदि के नए संस्करणों में सरकारी

निर्देश के मुताबिक़ कुछ सरल और प्रचलित हिन्दी शब्दों को भी हटाकर उनकी जगह अरबी-फ़ारसी के शब्दों को रखना पड़ा है।

राजा शिवप्रसाद के भाषा संबंधी प्रयत्न न सिर्फ़ गंभीर और महत्त्वपूर्ण थे, वे प्रयोगात्मक और साहसिक भी थे। उन्होंने एक ऐसा व्याकरण लिखा जो हिन्दी और उर्दू, दोनों का था। इसकी वजह बताते हुए उन्होंने अपनी किताब *हिन्दी व्याकरण की भूमिका* में लिखा—''यह बात काफ़ी अजीब है कि हमारी देशी भाषा हमेशा दो ऐसी जुदा-जुदा लिपियों—फ़ारसी और नागरी—में लिखी जाए, जिनमें से एक दाहिने से बाएँ और दूसरी बाएँ से दाहिने को चलती है। लेकिन यह तो और भी अनोखी बात है कि उनके व्याकरण भी दो हों! यह विसंगति शुरू हुई थी डॉ. गिलक्राइस्ट के समय में पंडितों और मौलवियों के द्वारा, जिन्हें उत्तरी भारत की सामान्य भाषा का व्याकरण लिखने का काम सौंपा गया था और जिन्होंने इसके दो व्याकरण बना दिए—एक पूरी तरह से फ़ारसी और अरबी के आधार पर, दूसरा पूरी तरह से संस्कृत और प्राकृत के आधार पर। मौलवियों को संस्कृत का कोई ज्ञान न था और उन्होंने देशी भाषा के संस्कृत आधार की उपेक्षा की। इतने ही असहिष्णु वे पंडित भी थे, जिन्होंने देशी भाषा के विकास में सामी तत्त्वों के पड़े असर को मानने से इनकार किया। नतीजा सरकारी दफ़्तरों की फ़ारसीनिष्ठ उर्दू है और प्रेमसागर वाली हिन्दी—जिन्हें जनसाधारण बिलकुल नहीं समझते। इनमें से एक इस हद तक जातीय या राष्ट्रीय है ही नहीं कि उसे स्वीकार किया जा सके, दूसरी बड़े बचपने के साथ उन परिस्थितियों की उपेक्षा करती है, जिनमें उर्दू भाषा बनी। इसका बुरा नतीजा यह निकला कि स्कूलों में देशी भाषा का एक व्याकरण होने के बजाय, दूसरे शब्दों में एक ऐसा व्याकरण होने के बजाय, जिसे फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में बिना किसी फ़र्क़ के लिखा जा सके, हमने फ़र्क़ रखते हुए दो अलग-अलग व्याकरण बना डाले। एक मुसलमानों और कायस्थ बच्चों के लिए, दूसरा ब्राह्मण और बनियों के लिए।''[1]

अगर हिन्दी और उर्दू बुनियादी तौर पर एक ही ज़ुबान हैं, जो उनकी बोलचाल के रूप से ज़ाहिर है, तो फिर उनका व्याकरण भी एक ही होना चाहिए। ऐसा व्याकरण लिखने की कोशिश करके शिवप्रसाद ने एक नई और सही परंपरा की नींव डाली थी। लेकिन इस परंपरा को किसी ने भी आगे नहीं बढ़ाया। शिवप्रसाद के लिखे व्याकरण में कई कमज़ोरियाँ भी थीं, जो पहले प्रयत्न में होनी स्वाभाविक हैं। भारतेन्दु ने 'फजीहत राय' छद्मनाम से समीक्षा लिखकर उसकी हँसी उड़ाई। लेकिन शिवप्रसाद की मूल दिशा सही थी।

1855 से लेकर 1876 तक अपने प्रयत्नों से और 1876 से 1900 ई. के कुछ बाद तक क़ानूनी रूप से—क़रीब पचास सालों तक पश्चिमोत्तर प्रांत की स्कूली पाठ्यपुस्तकों में

---

1. *हिन्दी व्याकरण* की अंग्रेज़ी में लिखी भूमिका से उद्धृत, संक्षिप्त हिन्दी रूपांतर संपादक का किया हुआ है।

राजा शिवप्रसाद की ही भाषा-नीति चलती रही। उनकी मृत्यु के बाद स्कूली किताबों की यह भाषा-नीति उलट दी गई। इसको उलटने की भूमिका कुछ और पहले से बननी शुरू हो गई थी। पश्चिमोत्तर प्रांत में मैकडॉनल के लेफ़्टिनेंट गवर्नर बनकर आने के बाद प्रांतीय शासन की नीतियों में बदलाव आना शुरू हुआ। मैकडॉनल मुस्लिम विरोधी थे। मैकडॉनल के साथ काशी नागरीप्रचारिणी सभा और हिन्दी आंदोलन के नेताओं के अच्छे संबंध क़ायम हुए और स्कूली पाठ्यपुस्तकों को बनाने की ज़िम्मेदारी काफ़ी हद तक इन संस्थाओं से जुड़े नेताओं को दे दी गई। इन्होंने शिवप्रसाद की भाषा-नीति को उलट दिया और स्कूली पाठ्यपुस्तकों की भाषा को वैसा ही संस्कृतनिष्ठ रूप दे दिया, जैसा वे अपने साहित्यिक लेखन और पत्रकारिता की भाषा को पहले से ही देते आ रहे थे।

1873 में हिन्दी के नई चाल में ढलने के भारतेन्दु के दावे से बहुत पहले राजा शिवप्रसाद हिन्दी को नई, आधुनिक चाल में ढाल चुके थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में उनकी भाषा-नीति पर उर्दूपरस्ती का ठप्पा लगाकर उनके साथ बेइन्साफ़ी की गई। मौजूदा सांस्कृतिक संदर्भों में राजा शिवप्रसाद की भाषा नीति पर पुनर्विचार की ज़रूरत है। यह भी ग़ौरतलब है कि वे अरबी-फ़ारसीनिष्ठ उर्दू के उतने ही विरोधी थे, जितने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के।

जीवन के आख़िरी दिनों में उन्होंने उर्दू में अपनी आत्मकथा *सवानेह उमरी* लिखी। यह किताब बहुत संक्षेप में लिखी गई है और इसमें उनके जीवन के बहुत-से पहलुओं की कोई जानकारी नहीं मिलती। मिसाल के तौर पर *बनारस अख़बार* से उनका रिश्ता किस तरह का था, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। लेकिन बड़े अंग्रेज़ अफ़सरों द्वारा की गई अपनी तारीफ़ के किसी भी प्रसंग को बताने से शिवप्रसाद चूके नहीं हैं। किताब में बड़े हाकिमों और राजा-महाराजाओं की संगति में बिताए गए वक़्त और उनके दिलचस्प क़िस्सों के बयान ख़ूब मिलते हैं। इसकी उर्दू भाषा राजा शिवप्रसाद के प्रवाहपूर्ण, बोलचाल वाले गद्य का प्रतिनिधि उदाहरण है। इसकी भाषा का एक नमूना देखें—''एक दिन था जब महाराजा जयसिंह पहले ही पहल जयपुर से मुहम्मदशाह की क़दमबोसी को दिल्ली चले। दस ग्यारह बरस की उम्र थी, अच्छे दखिनौटहसीन थे। औरतें जयपुर की हुशियार मशहूर हैं। माँ समझाने लगी—बेटा, बादशाह यह कहे तो तुम यह जवाब देना, अगर यह कहे तो यह जवाब देना, गरज इसी तरह जब देर तक समझाती रही, जयसिंह ने घबराकर कहा कि माँ, अगर यह कुछ न पूछ बादशाह कुछ और ही बात पूछे तो मैं क्या जवाब दूँ? माँ ने कहा, बेटा जो तेरी अक़्ल में आवे। जयसिंह ने कहा, बस अब आप ज़्यादा तकलीफ़ न फरमावें। मसल मशहूर है 'होनहार बिरवा के चिकने-चिकने पात।' दिल्ली में जब लाल परदे के अंदर गया, मुहम्मद शाह सामने मोंढ़े पर बैठा हुआ दातौन कर रहा था। जयसिंह दूर ही से आदाब बजा लाकर दस्तबस्ता खड़ा रहा। मुहम्मदशाह ने इशारा पास आने का किया। एक क़दम बढ़कर फिर आदाब बजा लाया और दस्तबस्ता खड़ा रहा। गरज इसी

तरह जब मुहम्मद शाह नज़दीक आने का इशारा करता, एक क़दम बढ़कर आदाब बजा लाता और दस्तबस्ता खड़ा रहता, इत्ता कि मोंढ़े के पास पहुँच गया। लड़का समझकर मुहम्मदशाह को दिल्लगी सूझी। समझा कि ख़ौफ़ में आकर रोने लगेगा। बाएँ हाथ से, जो दातौन से ख़ाली था, जयसिंह का जो कि हाथ जोड़े खड़ा था, दोनों हाथ पकड़ लिया और फ़र्माया कि जयसिंह, अब मैं तेरा क्या करूँ? जयसिंह ने निहायत तहम्मुल और अदब से अर्ज़ किया कि जहाँपनाह सलामत, इस दुनिया में जो कोई किसी का एक हाथ भी पकड़ता है, जन्मभर निभाता है, जबकि आपने मेरे दोनों हाथ पकड़े। मुझे और क्या चाहिए! मुहम्मद शाह बेअख़्तियार पुकार उठा कि यह अपने बाप से 'सवाया' होगा!''

उस ज़माने के दूसरे उर्दू लेखकों का गद्य देखें और शिवप्रसाद के गद्य को देखें! इस गद्य की भाषा मीर अम्मन की *बाग़ो बहार* की भाषा से भी कहीं ज़्यादा आसान उर्दू है। किताब के कुछ हिस्सो की भाषा में कठिन अरबी-फ़ारसी शब्दावली ऊपर वाले उद्धरण के मुक़ाबले में कहीं ज़्यादा है। कुछ हिस्सों की भाषा में हिन्दीपन ज़्यादा है। भाषा का आम स्वरूप आसान उर्दू का है। *सवानेह उमरी* की भाषा में हिन्दी-उर्दू एक-दूसरे के क़रीब दिखाई देती हैं। कबीर की तारीफ़ में रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था कि उन्होंने हिन्दू और मुसलमान, दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग निकाला था। कहा जा सकता है कि यही काम उन्नीसवीं सदी में शिवप्रसाद ने भाषा के क्षेत्र में किया था। इस बात पर कभी किसी का ध्यान नहीं गया पर यह सच है कि राजा शिवप्रसाद ने अपनी रचनाओं में भाषा का वही आदर्श रूप रखा, जिसे आगे चलकर बीसवीं सदी में गांधीजी ने हिन्दुस्तानी ज़ुबान के रूप में प्रस्तावित किया। इसके लिए गाँधीजी का तो नाम हुआ, लेकिन शिवप्रसाद बदनाम हो गए! यह बदक़िस्मती की बात है कि जैसे गाँधीजी की सुझाई हिन्दुस्तानी को मंज़ूर नहीं किया गया, उसी तरह राजा शिवप्रसाद की लिखी भाषा को भी स्वीकार नहीं किया गया। यह सवाल आज भी प्रासंगिक है कि अवध-पश्चिमोत्तर प्रांत यानी आज के उत्तर प्रदेश में हिन्दू और मुसलमानों की दो अलग-अलग भाषा होगी या एक ही भाषा होगी, जो उनके मेल-मिलाप पर आधारित होगी? राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति का मूल्यांकन इस सवाल के जवाब पर निर्भर करेगा।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

1. राजा शिवप्रसाद : सवानेह उमरी, *त्रिपथगा* पत्रिका (लखनऊ) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित
   — *भूगोलहस्तामलक,* संस्कृत प्रेस, कलकत्ता, 1859
   — *विद्यांकुर,* नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, 1915
   — *इतिहासतिमिरनाशक,* मेडिकल हाल प्रेस, लखनऊ, 1873
   — *निवेदन राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' का सज्जन आर्य पुरुषों से,* मेडिकल हाल प्रेस, बनारस, 1888
   — *लेक्चर राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' का : थियॉसुफी और ड्यूटी : ज्ञान और कर्म,* बनारस लाइट यंत्रालय, 1885
   — *मानवधर्मसार,* 1885
   — *हिन्दी व्याकरण,* मेडिकल हाल प्रेस, बनारस, 1875
   — *गुटका अथवा हिन्दी सेलेक्शन्स,* मेडिकल हाल प्रेस, बनारस, 1867
   — *मेमोरेंडम : कोर्ट कैरेक्टर्स इन दी अपर प्रोविन्सेज ऑफ़ नॉदर्न इंडिया,* 1868
2. डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर : *दी इंडियन एजुकेशन कमीशन,* 1882, नॉर्थ-वेस्ट प्रोविन्सेज एंड अवध; प्रोविंशियल रिपोर्ट, एवीडेंस टेकन बिफ़ोर दी कमेटी एंड मेमोरियल एड्रेस्ड टू दी एजुकेशन कमीशन, गवर्नमेंट प्रेस, कलकत्ता, 1883
3. रामचंद्र शुक्ल : *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संवत 2042
4. रामविलास शर्मा : *भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा,* राजकमल, दिल्ली, 1975
5. ए. पावेल : *हिस्ट्री टेक्स्टबुक्स एंड दी ट्रांसमिशन ऑफ दी प्री-कोलोनियल पास्ट इन नॉर्थ-वेस्टर्न इंडिया इन दी 1860 एंड 1870,* दाउद अली द्वारा संपादित ग्रंथ *इनवोकिंग दी पास्ट* में शामिल निबंध; ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1999
6. सं. शान मुहम्मद : *राइटिंग एंड स्पीचेज़ ऑफ़ सैयद अहमद ख़ान,* नचिकेता पब्लिकेशन, बंबई, 1972

7. सं. विजयशंकर मल्ल : *प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1972
8. दयानंद सरस्वती : *भ्रमोच्छेदन*, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1983
9. भीमसेन शर्मा : *अनुभ्रमोच्छेदन*, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1995
10. उमेशनंदन सिन्हा : *हिन्दी के उन्नायक और रक्षक राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द'*, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, अंक ?

पत्र-पत्रिकाएँ

1. *भारत जीवन*, बनारस
2. *हरिश्चंद्र मैग्जीन*, बनारस
3. *हरिश्चंद्र चंद्रिका*, बनारस
4. *हिन्दी प्रदीप*, प्रयाग
5. *ब्राह्मण*, कानपुर

परिशिष्ट (I)

राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' की हिन्दी और उर्दू रचनाएँ

हिन्दी में

1. *मानवधर्मसार*
2. *योग वासिष्ठ*
3. *उपनिषद सार*
4. *मोह मुद्गर*
5. *स्वामी दयानंद मत खंडन*
6. *निवेदन राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' का सज्जन आर्य पुरुषों से*
7. *जैन और बौद्ध का भेद*
8. *मेमोरेंडम : कोर्ट कैरेक्टर्स इन दी अपर प्रोविंसेज ऑफ़ नॉर्दर्न इंडिया*
9. *भूगोलहस्तामलक*
10. *विद्यांकुर*
11. *इतिहासतिमिरनाशक*, तीन खंडों में
12. *गुटका*, संपादित ग्रंथ, तीन खंडों में
13. *वीर सिंह का वृत्तांत*, कहानी, गुटका में संकलित
14. *राजा भोज का सपना*, कहानी, गुटका में संकलित
15. *बामा मनरंजन*, कहानियाँ, गुटका में संकलित
16. *आलसियों का कोड़ा*
17. *हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल*
18. *सिखों का उदय और अस्त*
19. *स्वंयबोध उर्दू*
20. *हिन्दी व्याकरण*
21. *भाषा का इतिहास*
22. *भाषा व्याकरण*

23. *हिन्दी भाषा सार*
24. *अंग्रेजी अक्षरों को सीखने का उपाय*
25. *बच्चों का ईनाम*
26. *लड़कों की कहानी*
27. *गीत गोविन्दादर्श*
28. *कबीर टीका*
29. *लेक्चर राजा शिवप्रसाद सितारैहिन्द का : थियॉसुफी और ड्यूटी : ज्ञान और कर्म*
30. *सैण्डफोर्ट और मरटन की कहानी*, अनुवाद
31. *वर्णमाला*

उर्दू में

1. *दुलानल*, अनुवाद
2. *क़िस्सए सैण्ड़फ़ोर्ट व मरटन*, अनुवाद
3. *आईनाए-तारीख़नुमा*, तीन जिल्दों में
4. *तारीख़-ए-स्टॉनफ़ोर्ड*
5. *तारीख़-ए-रोम*
6. *तारीख़-ए-हेनरी*
7. *हालात-ए-एच.सी.टक्कर*, जीवनी
8. *चमेली-गुलाब का क़िस्सा*
9. *दिल बहलाव*, कहानियाँ
10. *छोटा जाये जहाँनुमा*
11. *खुलासुर तबासीर*
12. *शहादते क़ुरान*
13. *कुछ बयान अपनी जुबान का*
14. *उर्दू सर्फ़*
15. *हक़ायक़े मौजूदात*
16. *जाये जहाँनुमा*, चार जिल्दों में
17. *मज़ामीने राजा शिवप्रसाद*
18. *सवानेह उमरी*
19. *श्री बृज बिलास*, फ़ारसी लिपि में ब्रजभाषा काव्य संकलन

परिशिष्ट (II)

राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' की रचना

॥ बामा मनरंजन ॥

॥ दमयन्ती १ ॥

विदर्भ नगर के राजा भीमसेन की कन्या भुवनमोहनी दमयन्ती का रूप और गुण सारे भारतवर्ष में प्रख्यात हो गया था। निषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र महागुणवान अतिसुशील धार्म्मिक नल से स्वंयवर में उस ने जयमाल देकर विवाह किया। बारह बरस तक दोनों का सुख चैन से दिन कटा और इस अन्तर में उनके एक लड़की और लड़का भी हो गया। यद्यपि मनु जी ने धर्म्मशास्त्र में पासा खेलना मना लिखा है पर नल को इसका शौक़ था। अपने छोटे भाई पुष्कर के साथ खेला करता। यहां तक की दाव लगाते लगाते सारा राज हार गया। सिवाय एक धोती के और कुछ भी पास न रहा। दमयन्ती को साथ लेकर बाहर निकला। लड़का लड़की को दमयन्ती ने पहले ही से अपने बाप के घर भेज दिया था। पुष्कर ने सारे राज में डौंड़ी फिरवादी कि नल को जो कोई अपने घर में घुसने देगा जान से हाथ धोएगा। राजा नल को तीन दिन रात निराहार बीत गया। चौथे दिन नदी के किनारे जाके चिल्लू से पानी पिया और जंगल में जाके फल फूल कन्द मूल से रानी समेत गुज़ारा करने लगा। नल ने दमयन्ती को बहुत समझाया कि तुम सी कोमल और सुकुमार स्त्रियों का ऐसी बिपत में कदापि साथ रहना नहीं हो सकता। अब उचित यही है कि तुम अपने पिता के घर चली जाओ, जो ईश्वर अनुकूल होगा तो फिर भी मिल रहेंगे। दमयन्ती यह बात सुनके रोने लगी और बोली कि हे महाराज, हे स्वामी, हे प्रियतम, ऐसा कठोर वचन आपके मुखपंकज से क्योंकर निकला ? क्या आप बिना मैं पिता के घर में यहां से अधिक सुखी रहूंगी ? क्या खाना और पहरना आप के दर्शन से अधिक सुखदाई है ? जो आप मुझे त्याग भी करें तो मैं आप को कदापि नहीं त्याग कर सकती। जो आप फिर कभी ऐसा वचन मुख से निकालेंगे तो मैं आत्मघात करूंगी। यह कहके अपने हाथों को राजा के गले का हार बना एक वृक्ष के नीचे सो गयी। राजा ने अपने जी में सोचा कि जो स्त्री राजमन्दिर में फूल की सेज पर भी डरके पैर रखती थी, वह भला इस अगम्य जंगल में कांटों के ऊपर क्योंकर चल सकेगी। मैं तो सब कुछ सह लूंगा पर अपनी प्राणप्यारी को इस बिपत में क्योंकर देख

सकूंगा। यह मुझे छोड़ने पर कभी राज़ी न होगी पर जो मैं इसे यहां सोती हुई छोड़ दूं तो किसी न किसी तरह अपने पिता के घर पहुँच जायगी। निदान यह सोच-बिचार के उस चन्द्रवदनी गजगमनी को उसी वृक्ष के तले छोड़ा और आप एक तरफ को चला। नल के पास कपड़ा पहरने को न था। एक चिड़िया पर उसे पकड़ने को धोती डाली थी, वह चिड़िया धोती समेत उड़ भागी। जब बिपत के दिन आते हैं तो सारे सामान ऐसे ही बंध जाते हैं। निदान राजा नल ने चलते समय दमयन्ती की साड़ी काटकर आधी उस में से अपने पहरने को ली और आधी उस के बदन पर रहने दी। इस मनुष्य का मन भी विधाता ने किस प्रकार का रचा है कि जब कोमल होता है तो मोम से भी अधिक पिघलता है और जब कड़ा होता है तो वज्र को भी मात करता है। नल के जी की दशा उस समय नल ही जानता था। थोड़ी थोड़ी दूर जा जा कर दमयन्ती को देखने को फिर लौट आता था। निदान जब नल दूर निकल गया और दमयन्ती की आंख खुली तो उसे अपने पास न पाकर सिर धुन्ने और हाथ पटकने लगी। मूर्छा खा कर धरती पर गिर पड़ी। आंसुओंकी धारा बहाने लगी। पुकार पुकार के रोने लगी कि हे प्राणनाथ, मैंने क्या अपराध किया था जो मुझ दासी को तुमने इस ढब जंगल में अकेली छोड़ा? उस अपनी प्रतिज्ञा को याद करो जो ब्याह के समय की थी कि जीते जी तुझ से जुदा न होंगे और शीघ्र अपने मुखड़े के प्रकाश से मेरे मन की कली को खिलाओ। उस काल उस अबला की यह दशा देखके पत्थर का हिया भी दाड़िम सा दरकता था और मृग पक्षी का कलेजा भी फटा जाता था। जब दमयन्ती अपने पति को पुकारती पुकारती सघन बन में हर तरफ घूमने लगी तो अचानक एक अजगर ने उसे आ घेरा। चाहता ही था कि मुंह चलावे पर दमयन्ती का चिल्लाना सुनकर जो एक व्याध उधर को आ गया था, उसने एक ही तीर में इस अजगर का काम तमाम किया। यह व्याध दमयन्ती के लिए अजगर से भी अधिक दुखदाई हुआ और मोह के बस में पड़कर उस सती का सत्यधर्म्म नाश करना चाहा। दमयन्ती बहुत गिड़गिड़ायी और उस व्याधे को पिता कह के सारी धर्म्म की बात समझायी। पर जब देखा कि यह नीच दुर्बुद्धी किसी ढब नहीं मानता तो व्याकुल होके अंतर्यामी घट घट निवासी जगदीश्वर से यों प्रार्थना की कि हे दीनबन्धु दीनानाथ दीनहितकारी, यदि मैं सती हूं और यह दुष्ट मेरा सत्य भंग करना चाहता है तो इसी समय यह भस्म हो जाय। क्या महिमा है उस अपरंपार करुणानिधिकी कि व्याधे ने जो इस बात से क्रोध में आके दमयन्ती पर तीर चलाया, आप ही उस तीर से बिंध गया और फिर सांस न लिया। दमयन्ती रोती बिलापती जंगल पहाड़ों को छानती, सिंह और हाथियों से बचती, सौ सौ आफ़तें झेलती, बनवासी मुनि लोग और बंजारों से पता लगाती सुबाहुनगर में पहुंची और वहां के राजा की रानी के पास दासी बनके रहने लगी। वहां से उसे उस के पिता के भेजे हुए ब्राह्मण ढूंढ़ खोजकर विदर्भ नगर को ले गये। राजा नल अपनी प्राणप्यारी के विरह में शोकाकुल होकर घूमता फिरता अयोध्या में आ निकला और बाहुक के नाम से

वहां के राजा ऋतुपर्ण का सारथी बना। दमयन्ती के बाप ने नल के ढूंढने को नगर नगर ब्राह्मण भेज दिये थे। उन में से सुदेव नाम ब्राह्मण अयोध्या से यह समाचार लाया कि बाहुक नाम एक सारथी जो राजा ऋतुपर्णा के यहां है, दमयन्ती का नाम सुन्नते ही आंखों में आंसू भर लाया, पर उस ने अपने तईं सिवाय सारथी होने के और कुछ न बतलाया। दमयन्ती यह सुनते ही ताड़ गयी कि हो न हो, वह मेरा ही स्वामी राजा नल है और अपने बाप से उस के बुलाने की प्रार्थना की। पर जब वह भीमसेन के बुलाने से न आया और सारे उपाय निष्फल हुए तब दमयन्ती ने अपने बाप से कहके राजा ऋतुपर्ण को यह लिखवाया कि नल के मिलने की अब कुछ आस न रहने से दमयन्ती का दूसरा स्वंयवर रचा जावेगा, सो आप कृपा करके शीघ्र आइये। और दिन स्वंयवर का ऐसा समीप ठहराया कि बिना राजा नल के हांके कोई घोड़ा उस अल्प काल में अयोध्या से विदर्भ तक न पहुंच सके। राजा नल का रथ हांकना प्रख्यात था। राजा ऋतुपर्ण बहुत घबराया कि इतने थोड़े अर्से में क्योंकर विदर्भ पहुंच सकेंगे, पर नल ने कहा कि महाराज आप चिन्ता न कीजिए मैं आप को स्वयंवर के दिन से पहले वहां पहुंचा दूंगा। निदान ऐसा ही हुआ। राजा भीमसेन ने ऋतुपर्ण का बड़ा सम्मान किया परन्तु वहां स्वयंकर की कुछ रचना और किसी दूसरे राजा को न देखकर यह अपने मन में बहुत लज्जित हुआ। नल घोड़े को घुड़साल में बांधकर भीमसेन के सारथी के पास एक टूटी-सी खाट पर पड़ रहा। दमयन्ती अयोध्याधिपति के पहुँचने के समाचार पाकर बहुत घबरायी और मन में प्रतिज्ञा की कि अब जो नल से मिलाप न हुआ तो आज अवश्य अपने तन को अनल में दाह करूंगी। निदान अपनी सखी केशिनी को ऋतुपर्ण के सारथी का अनुसंधान लेने के लिये घुड़साल में भेजा। केशिनी ने जाके नल से कहा कि दमयन्ती आप का नाम और पता ठिकाना पूछती हैं, नल ने कहा कि मेरा नाम बाहुक है मैं अयोध्या केराजा का सारथी हूँ। दमयन्ती का स्वयंवर आज ही सुनके मारोंमार घोड़ों को यहां लाया हूं। पर बड़े ही अचरज की बात है कि राजा नल की रानी दमयन्ती ऐसी पतिव्रता सती होके दूसरे पति की इच्छा करे। सच है जब मनुष्य के बुरे दिन आते हैं तो स्त्री पुत्र भी अपने नहीं रहते। केशिनी बोली हे बाहुक, तुम कुछ राजा नल का भी पता ठिकाना बता सकते हो ? देखो तो उन्होंने कैसा कठिनाई और निर्दयता का काम किया कि अबला बाला को अकेली जंगल में शेर हाथी और रीछ अजगरों के साथ छोड़ कर अपना रस्ता लिया। दमयन्ती ने उनके विरह में अन्न जल और सेज का त्याग करके केवल उन्हीं के नामस्मरण का अवलम्ब किया है। दमयन्ती की यह बिथा सुन कर नल की आखों से आंसुओं की धारा बह चली। बोला कि स्त्री अपने पति से चाहे जितना कष्ट पावे पर उसे औरों के साम्हने उस की निन्दा करनी कदापि उचित नहीं। जो राजा नल दमयन्ती को वहां जंगल में न छोड़ जाता तो उसका प्राण ही बचना कठिन था और सिवाय इसके जो नल ने कोई निर्दयता का भी काम किया हो तो दमयन्ती को उस पर कोप न करना चाहिये। जो आदमी कल राजा

था और आज पांव में पहन्ने को जूता भी नहीं रखता उसकी मति यदि ठिकाने न रहे तो क्या अचरज है। इतना कह नल फिर रोने लगा। केशिनी ने रनवास में जाके यह सब वृत्तान्त दमयन्ती से कहा। दमयन्ती ने सुनते ही जान लिया कि यह बाहुक नहीं, यह मेरा भर्त्ता राजा नल है। केशिनी से कहा कि तू फिर उसके पास जा और देख आ कि वह क्या कर रहा है और अब की बार मेरे लड़के लड़की को भी लेती जा। नल अपने बेटा बेटी को देखके आसुओं की धारा को न रोक सका। दोनों को छाती से लगा लिया और कहने लगा कि मेरे भी ऐसे ही बेटा बेटी हैं, पर बहुत दिनों से देखा नहीं। इन्हें देखके वे मुझे याद आगये। अब इन्हें इनकी माँ के पास लेजा। बिचारे आज नल के लड़के हैं कल किसी दूसरे के हो जायंगे। नारी ही धन्य है आज एक पति छोड़ा कल दूसरा कर लिया। परन्तु रात बीते तो मैं भी यह तमाशा देखूंगा कि राजा नल की सती रानी दमयन्ती किस प्रकार दूसरा भर्त्ता करती है। कोशिनी ने आके दमयन्ती से सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दी और बोली कि यह तो कोई दैवी पुरुष है, जितनी सामग्री हमारे यहां से राजा ऋतुपर्ण को दी गई थी इसने देखते ही देखते सब रींधके तैयार कर ली। दमयन्ती ने कहा, जा, जो जो कुछ उसने रींधा हो थोड़ा थोड़ा सब मेरे पास ले आ। केशिनी ले आई। दमयन्ती ने चक्खा तो उन में वही स्वाद पाया जो राजा नल के बनाये भोजन में पाती थी। राजा नल इस काम में बड़ा ही निपुण था। अपनी माँ से जा के कहा कि मेरा स्वामी आ गया, मुझे उसके पास घुड़साल में जाने की आज्ञा दीजिये। वह इस संवाद को सुनकर अत्यन्त हर्षित हुई और दमयन्ती को घुड़साल में जाने की आज्ञा दी। वह अपना लड़का लड़की साथ लिये नल के पास घुड़साल में गयी। नल को सारथी के भेष में तनछीन मुखमलीन देख के अत्यन्त शोकाकुल हुई। आंखों से आंसुओं की धारा वह चली। बोली—हे प्राणानाथ! यह कौन सी नीति थी जो आप ने मुझ निरपराधिनी अबला को अकेली उस जंगल में छोड़ा? नल ने लज्जित होके उत्तर दिया कि हे प्राणप्यारी क्या मैं कभी तुम को छोड़ सकता था? परन्तु जिस बिपरीत बुद्धि ने मुझ से मेरा राज्य छुड़ा लिया उसी ने तुम्हें भी मुझ से बिछुड़ाया। पर जो कुछ तुम्हारे दारुण बिरह का दुसह दुख मैंने सहा है वह मेरा शरीर कहेगा। जो हो पतिव्रता स्त्री अपने पति का दोष देख कर भी उसकी निन्दा नहीं करती है। पर तुम तो कल किसी दूसरे की हो जाओगी, तुम्हें इन बखेड़ों से अब क्या काम है? दमयन्ती ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि महाराजा, राजा ऋतुपर्ण को केवल आप के बुलाने के लिए स्वयंवर का पत्र लिखवाया था और आप देखिये कि उसके सिवाय और कोई भी यहां नहीं आया। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जो मैं आज आप से न मिलूं तो आग में जल मरूं। निदान यह बात धीरे धीरे राजा भीमसेन और ऋतुपर्ण तक भी पहुंची। वे इस बात के सुनने से परम आनन्दित हुए। राजा ऋतुपर्ण ने नल से कहा कि महाराजा, मैं ने आप को न जानकर बड़ी अनीति की, मेरा कहा सुना और भूल चूक आप सब क्षमा कीजिये। राजा ऋतुपर्ण तो अयोध्याकी ओर सिधारा और

भीमसेन ने नल से यह कहा कि अभी निषध देश में आप का जाना उचित नहीं, आप मेरा राज पाट लीजिये, इसी जगह रहिये। पर जब नल ने सुसराल में रहना स्वीकार न किया और अपने देश में जाने की हठ की तो राजा भीमसेन ने एक रथ, सोलह हाथी, पांच सौ घोड़े और छ सौ पियादे साथ देकर निषध देश की ओर बिदा किया और दमयन्ती को अपने ही पास रक्खा। राजा नल ने निषध में जाकर अपने भाई पुष्कर से यों कहा कि आओ एक बार और भी तुम्हारे साथ पासा खेलें । जो हम हारें तो तुम्हारे दास होकर रहें और जो तुम हारो तो हम अपना सारा गया हुआ राज तुम से फेर लें। भगवान का करना उस बाज़ी में नल ही की जीत हुई। पुष्कर मारे डर के बेत की तरह कांपने लगा। परन्तु नल ने समझाया और कहा कि भाई इस में तुम्हारा क्या अपराध है, यह सब अपने दिनों का फेर है। बहुत बेखटके रहो और जिस ढब पहले काम करते थे उसी तरह करते रहो। फिर नल ने दमयन्ती को भी बेटा बेटी समेत विदर्भ नगर से अपने पास बुलवा लिया और बहुत काल तक सुख चैन से राज करता रहा। जैसा दिन इनका फिरा भगवान् सब का फेरे॥

॥ अहल्या बाई २ ॥

हिमालय से लेकर सेतबन्ध रामेश्वर तक ऐसे आदमी इस देश में बहुत कम निकलेंगे जिन्हों ने अहल्याबाई का नाम न सुना हो या उसका बनाया हुआ घाट और पुल और धर्मशाला और तालाब आदि न देखा हो। परन्तु उसका जीवनवृत्तान्त बहुत कम लोगों ने सुना। इस लिये इस जगह पर कुछ थोड़ा सा लिखा जाता है।

मल्हारराव हुल्कर नीरा नदी के तीर होहन गांव में एक शूद्र के कुल में पैदा हुआ था। भाग्य के बल से पेशवा बहादुर की सेना में सेनादार हो गया। जिन दिनों में भास्कर पांडु ने बंगाला लूटा तो इसने गुजरात को ग़ारत किया और फिर दिल्ली के तख़्त पर से अहमदशाह को उठाकर दूसरे आलमगीर को बिठाया। लाहौर, मुलतान तक मरहठों का झंडा पहुंचाया, लेकिन अहमद शाह दुर्रानी से पानीपत की लड़ाई में शिकस्त खाकर पीछे हटा। मालवा इसे जागीर में मिला था, इसलिये वह मालवे का राजा कहलाया। लड़का एक ही था, नाम उसका खांडेराव। जाटों के हाथ से भरतपुर के पास कुंभेर की लड़ाई में मारा गया और अपनी स्त्री अहल्याबाई को विधवा छोड़ गया। जब सन् १७६० ई. में मल्हारराव मरा तो अहल्याबाई का बेटा मालीराव गद्दी पर बैठा। परन्तु नौ महीने राज्य करके वह भी परलोक को सिधारा और वारिस न रहने के कारन अहल्या को आपही राज काज संभालना पड़ा। गंगाधर यशवन्त ने, जो राजपुरोहित था, बहुतेरा चाहा कि अहल्याबाई कोई लड़का गोद

ले ले क्योंकि लड़का गद्दी पर रहने से उसके गुरू अर्थात् पुरोहित जी का बड़ा इख़्तियार रहता और अहल्याबाई सी बुद्धिमती रानी के साम्हने काहे को किसी दूसरे का कुछ हुक्म चल सक्ता था। गंगाधर ने अहल्या को बहुत समझाया कि लड़के बिना वंश का नाम क्योंकर रहेगा और धमकाया भी कि लड़का न लोगी तो यह राज दूसरों के हाथ में चला जायगा और आस पास के राजाओं को अहल्या से लड़ने को उभारा। अहल्या ने गंगाधर से कहला भेजा कि सुन, एक राजा की तो मैं स्त्री थी और दूसरे की मां। जब परमेश्वर ने उन्हीं को उठा लिया और मल्हारराव का वंश नाश किया तो फिर अब दूसरे किसी का लड़का गोद लेकर उसे राजा बनाना मुझे हर्गिज मंजूर नहीं। और साथ ही लड़ाई का सामान भी दुरुस्त किया। उसने इस बात का पक्का मंसूबा ठाना था कि जो लड़ाई हो तौ आप धनुष बान लेके हाथी पर फ़ौज के साथ जावे। पर अहल्या का साहस और बुद्धिबल देखके किसी का भी हियाव न पड़ा कि उससे लड़ने को कमर बांधे। फिर कुछ दिन बाद अहल्याबाई ने राज़ी होके गंगाधर को अपना दीवान मुक़र्रर किया और तुक्का जी हुल्कर को सेनापति और काम उन दोनों को ऐसा जुदा जुदा बांट दिया कि तीस बरस के अर्से में जो अहल्या ने राज किया, उन के दर्मियान कभी कुछ तकरार या झगड़ा न हुआ। कहते हैं कि जब अहल्याबाई ने राज काज अपने हाथ में लिया तो उस समय दो करोड़ रुपया ख़ज़ाने में था और चार पांच लाख रुपये साल की उसे अपनी जागीर से भी आमदनी थी। अहल्याबाई ने संकल्प करदिया कि यह सारा धन पुण्य के कामों में लगाया जावे और वैसा ही उसने कर दिखलाया। जिस तरह चिड़ियों को पिंजरे में रखते हैं उस तरह स्त्रियों को पर्दे के अन्दर रखना यह दस्तूर इस देश में मुसलमानों की अमलदारी से चला है क्योंकि मुसलमान बादशाह बड़े अत्याचारी होते थे। जिस स्त्री को सुन्दर और नवयौवना देखते तुरन्त महलों में डाल लेते थे। इसी डर से स्त्रियां घर में पर्दे के अन्दर रहने लगीं, नहीं तो धर्म्मशास्त्र में कहीं पर्दे के अन्दर रहने का हुक्म नहीं लिखा है। देखो, यही अहल्याबाई जिस का यश चहुंदिश छा रहा है, भरे दर्बार में बैठती थी और अपनी प्रजा का आप न्याय करती थी। ऐसा कोई फ़र्यादी नहीं था जो उस तक नहीं पहुंच सकता और छोटे से छोटा मुक़द्दमा भी ऐसा कोई नहीं था जिस का वह मन देके पक्षपात रहित सूक्ष्म विचार न करती। प्रजा उस से सब राज़ी थी। वह कारदारों की बदली कभी नहीं करती। तीस बरस तक अर्थात् जब तक उस ने राज किया वही गंगाधर यशवन्त दीवान बना रहा। वह अच्छी तरह जानती थी कि नित नये कारदार मुक़र्रर होने से उन में आपस की डाह और तकरार पैदा होती है और हर कोई काम पाने की उमेद में पुराने को गिराने के लिये फ़साद और बखेड़ा उठाया करता है। वह जो कुछ करती, ईश्वर का उस में सदा भय रखती और अक्सर कहा करती कि एक दिन हम सब को अपने कामों का हिसाब सर्वशक्तिमान् घटघटअंतर्यामी जगदीश्वर को समझाना पड़ेगा। वह नित घड़ी रात रहते उठती और ईश्वर का अर्चन वन्दन

करके धर्म्मग्रंथों का पाठ करती। वह पढ़ने लिखने में बहुत निपुण थी। फिर अपने हाथ से कुछ दान और ब्राह्मणों को भोजन कराती, तब आप खाती। मांस मछली का उसे त्याग था। आहार के बाद कुछ देर आराम करती, फिर दो पहर पर दोबजे राजवेष धारन करके सभा में जाती और संध्या तक दर्बार में रहती। फिर ईश्वर का अर्चन वन्दन और आहार करके नौ बजे से ग्यारह बजे तक राज काज देखती। इन्दौर पहले एक गांव था, उसी के समय में शहर हुआ। प्रजा के धन में उसे कुछ भी लोभ न था। जो उस के राज्य में किसी की वृद्धि होती तो वह उसे मानो अपनी ही वृद्धि समझती । कर गांव में तप्येदास और बनारसदास. दोनों भाई साथ ही मर गये, धन बहुत छोड़ गये, पर सन्तान किसी के नहीं। उन की स्त्रियों ने अहल्याबाई की राजधानी महेसुर में आके चाहा कि अपना सारा द्रव्य राजभंडार में दे दें परन्तु अहल्या ने कुछ भी नहीं लिया और कहा कि तुम इस धन से अपने स्वामियों का नाम रहने को कोई कीर्ति स्थापन करो। निदान उन स्त्रियों ने गांव में नदी पर ऐसा पंक्का घाट बनाया कि वह अब तक मौजूद है। गर्मियो में वह जाबजा पौसरे बैठाती। जाड़ों में कम्बल और कपड़े बाँटती। भूखों को जहां तक बन पड़ता खाने को देती। उस के मन की दया इसी बात से प्रगट हो जावेगी कि नदी में मछलियों को चारा देने के वास्ते भी आदमी नौकर थे और चिड़ियों के लिए पके हुए खेत मोल लिये जाते थे । उस की बुद्धि का बल और राज का अच्छा नियम इसी एक काम से मालूम हो जावेगा कि आगे भीलोंकी लूट मार से व्यापारियों का रस्ता चलना कठिन हो गया था, लेकिन जब से उसने यह दस्तूर बांध दिया कि भील लोग अपने गुज़ारे को अधेला बैल व्यपारियों से लिया करें और रस्तोंकी हिफ़ाज़त करें, जो उन के इलाक़े में किसी का माल चोरी जाय तो दाम भर दें नहीं तो उचित दंड पावें, चोरी चकारी और लूट मार उन जंगल पहाड़ों में बहुत घट गयी। अहल्याबाई कुछ बहुत सुंदर न थी पर रंग गोरा और चिहरा धर्म्म के तेज से दिपता था। कहते हैं कि सेंधिया की मां अनन्ताबाई ने, जो बड़ी रूपवती थी, अहल्या के यश और सुख्याति पर डाह खाकर एक दासी को उसे देखने के लिये भेजा। उसने आके बयान किया, महारानी जी अहल्या कुछ सुंदर तो नहीं है पर एक प्रकार की पारमेश्वरी ज्योति उसके मुखड़े पर दिप रही है। वह सदा प्रफुल्लित रहा करती थी, मरने पर भी उसके मुंह की आकृति नही बिगड़ी। जब से वह विधवा हुई, रंगीन कपड़ा कभी नहीं पहना और एक माला के सिवाय कभी कोई आभूषण धारण नहीं किया। गर्व का उस में लेश मात्र न था। एक पण्डित उसकी तारीफ़ में बड़ा सुंदर ग्रंथ बनाके लाया। सुन के आज्ञा दी कि इस ग्रंथ को इसी दम नर्मदा में डुबा दो। निदान सन् १७९५ ई. में इस धार्म्मिक स्त्री का परलोक गमन हुआ और धर्म्म का जो कुछ प्रभाव है वह अच्छी तरह साबित हो गया। यदि अहल्या अपना रुपया गोले बारूद में खर्चती और सारा हिन्दुस्तान भी अपने तहत में लाती तो ऐसा नाम न पाती जैसा इस धर्म्म की बदौलत पाया। देखो, कितने ही राजा ऐसे हो गये हैं जिन्हों

ने इस देश में एक छत्र राज किया पर आज उनका कोई नाम भी नहीं जानता और अहल्या का नाम यावत् चन्द्र दिवाकर हैं, लोग सुख्याति के साथ याद रक्खेंगे॥

॥ रानी भवानी ३ ॥

रानी भवानी बंगाले के राजशाही ज़िलेमें छातिन गांव के चौधरी आत्माराम की लड़की थी और नाटौर के ज़मींदार राजा रामजीवनराय के बेटे राजा रामकान्त से ब्याही गयी। जैसी वह सुंदर थी वैसी ही सुलक्षणा भी थी और धर्म्म और परोपकार में निष्ठा उसकी लड़कपन से रहती थी। दयाराम राजा रामजीवन का पुराना ख़ैरख़ाह नौकर था। राजारामकान्त को ज़मींदारी के काम काज में ग़ाफ़िल देखकर एक दिन समझाने और नसीहत करने लगा। राजा रामकान्त ने इस बात पर ख़फ़ा होकर उसे अपने यहां से निकाल दिया। वह बड़ा चतुर और बुद्धिमान था। बंगाले के सूबेदार नव्वाब अलीवर्दीख़ां के दर्बार में हाज़िर रहने लगा। एक दिन निवेदन किया कि जहांपनाह, राजा रामकान्त ने बत्तीस लाख रुपया घर में जमा किया और दो लाख का एक सर्पेच मोल लिया, पर आप का रुपया अदा नहीं करता, बाक़ी डालता चला जाता है और सर्कारी मालगुज़ारी को बातों में उड़ाना चाहता है। नव्वाब ने पूछा कि तू बत्तीस लाख रुपये का उसके घर में निशान दे सकेगा? उसने कहा बेशक! नव्वाब ने फिर पूछा कि राजा रामजीवन के कुटुम्ब में और कोई भी राज के लाइक़ है? उसने कहा, उन का भतीजा देवीप्रसाद बड़ा ईमानदार और ज़मींदारी के काम में होशियार है। नव्वाब ने उसी दम हुक्म दिया कि फ़ौज जावे और रामकान्त का घरबार लूट लेवे और देवीप्रसाद उस की जगह राजा होवे। मुसलमानों की अमल्दारी में प्राय: ऐसा ही अंधेर मचा रहता था। रामकान्त महलों में था। सुना कि नव्वाब की फ़ौज घर में घुस आयी और लूट मार कर रही है। इज्ज़त के ख़ौफ़ से रानी भवानी को साथ ले पनाले की राह बाहर निकला। धन द्रव्य का कुछ भी मोह न किया। रानी भवानी एक तो रानी, दूसरे गर्भवती, पैदल काहे को कभी चली थी। ज्यों त्यों बैठती उठती रामकान्त के साथ गंगा के किनारे तक पहुंची। वहां से एक छोटीसी नाव पर बैठकर दोनों मुर्शिदाबाद आये और जगतसेठ की शरण लेकर एक छोटी सी हवेली में रहने लगे। नित की तकलीफ़ सहते सहते घबरा गये थे। एक दिन रामकान्त खिड़की में से दयाराम को पालकी पर जाते हुए देख के बोला कि दयाभाई अब इस बिपत में कब तक रक्खोगे? दयाराम रामकान्त को देखते ही पालकी से उतर कर उसके पास चला आया और अपने मालिक की ऐसी दुर्दशा देखकर आंखों में आंसू भर लाया। बोला कि पचास हज़ार रुपया होय तो तुम को तीन ही दिन में फिर राज दिलवा सकता हूं। राजा ने कहा, मेरे पास इस समय रुपया कहां? रानी

ने समझाया कि आप न घबराइये और अपना सारा ज़ेवर उतार दिया। दयाराम ने उसे बेच कर कर जहां देवीप्रसाद रहता था वहां से नव्वाब की डेवढ़ी तक जितने बनिये और दूकानदार थे और जो जो नौकर चाकर नव्वाब के आस पास और दर्वाज़े पर हाज़िर रहा करते थे, सब को पांच से ले पांच सौ तक रुपये बांटे और कहा कि आप लोग, जिस समय देवीप्रसाद दर्बार को जाय, उसे सुना के इतना कह देना कि देखो यह वही अभागा जाता है। देवीप्रसाद यह सुनकर बड़ा दुखी हुआ और नव्वाब के पास जाकर रोया। नव्वाब बोला कि जो तुझे सारा संसार अभाग कहता है तो तू अवश्य अभागा है। मैं ऐसे अभागे को कभी राजा नहीं करूंगा। और फिर दयाराम से पूछा कि रामजीवन राय के कुल में कौन दूसरा आदमी राज के लाइक है ? उसने कहा कि जहांपनाह उनका बेटा ही रामकान्त बड़ा ईमान्नदार और ज़मींदारी के काम में होशयार मौजूद है। निदान नव्वाब ने उसी दम रामकान्त को राजगी का ख़िलत बख़शा और देवीप्रसाद को दर्बार से निकलवा दिया। तब से राजा रामकान्त दयाराम को वहुत मानता रहा और सोलह बरस राज करके परलोक को सिधारा। रानी भवानी के लड़का कोई न था। दो हुए थे, सो दोनों बालकपन ही में मर गये थे। सारा काम ज़मींदारी का आप देखती थी और दान और धर्म्म में बड़े बड़े राजाओं को मात करती थी। एक लाख अस्सी हज़ार रुपया साल तो नक़द पण्डित और साधु संत बैरागियों का मुक़र्रर था और प्रायः पांच लाख बीघे लोगों को धरती मुआफ़ थी। घाट, धर्म्मशाला आदि के सिवाय तीन सौ हवेली बनारस में मोल ली थीं कि जो लोग वहां काशीवास करने को आवें बिना किराये उन में रहा करे। बहुतेरे आदमी उसके देश के जो काशी में रहने को आते, उन्हें मकान के सिवाय जन्मभर परिवार समेत खाने पहरने को भी देती। पंचकोशी की सारी सड़क में थोड़ी थोड़ी दूर पर धर्म्मढीहे बनवाकर और कुएं खुदवा कर पेड़ लगवा दिये थे। कई जगह धर्म्मशाला बनवा के तालाव भी तैयार कर दिये थे। सदाबर्त्त जारी था। काशी में आठ मन भीगा चना और पच्चीस मन चांवल नित भूखों को बांटा जाता था और एक सौ आठ स्त्री पुरुष इच्छाभोजन करते थे। जब रानी भवानी काशी में आयी तो कहते हैं कि सत्तरह सौ नाव उसके साथ थीं। उसका रहना अक्सर मुर्शिदाबाद के ज़िले में गङ्गा के तीर बड़नगर में होता था और यह बात सोच कर कि सब जगह सब समय भूखे नंगे उस तक नहीं पहुंच सक्ते थे और न वह उनको दान दे सकती थी, हुक्म था जब कोई भूखा नंगा आवे तो रुपये तक पोतदार, पांच रुपये तक ख़ज़ानची, दस रुपये तक मुत्सद्दी और सौ रुपये तक दीवान बिना पूछे देदे। जब सौ रुपये से ऊपर देना हो तो रानी से पूछे । ज़मींदारी भर में ब्राह्मण की कन्या के विवाह का ख़र्च रानी की सर्कार से दिया जाता। नवरात्रि में दो हज़ार वस्त्र सुहागन और कुमारियों को बंटता और उसके साथ एक एक सोने की नथ भी दी जाती और पचास हज़ार रुपया पण्डितों को मिलता। रोगियों के देखने को आठ वैद नौकर थे, वह ज़मींदारी भर में गांव गांव दवा लेके घूमा करते और बीमारों की सेवा को

उनके साथ नौकर भी रहा करते। रानी भवानी की दान धर्म्म में जैसी निष्ठा थी, इसी बात से मालूम हो जायगी कि जब एक साल इलाक़ों की आमदनी आने में देर हुई तो हुक्म दिया कि खत्तों में जो कुछ अनाज है बेच डालो और जिस जिस के जो जो देने के लिये मैंने कहा है तुरन्त दे दो। कहते हैं कि वह अनाज तीन लाख रुपये को बिका और ख़ज़ाने में आने से पहले ही लोगों को बंट गया तौ भी पूरा न पड़ा। तब अपना गहना बेचकर दिया, पर जिसे जो देने को कहा था वह बचन न तोड़ा। वह नित चार घड़ी रात रहे उठती थी और ईश्वर का ध्यान और जप करती। भोर होने पर स्नान करके दो पहर तक ईश्वर का अर्चन बन्दन और धर्म्मशास्त्र का श्रवण करती। फिर कुछ जलपान करके अपने हाथ से रसोई बनाती और उस में से दस ब्राह्मणों को खिलाके तब आप भोजन करती। फिर दीवानख़ाने में कुशासन पर बैठ कर पान सुपारी खाती और जो कुछ कार्दारों को आज्ञा देनी होती सो उन्हें लिखवा देती। तीसरे पहर को धर्म्मशास्त्र सुनती दो घड़ी दिन रहे कार्दार लोग काग़ज़ दस्तख़त कराने को लाते। रात को फिर चार घड़ी जप करती तब कुछ भोजन करके डेढ़ पहर रात तक राजकाज की सुध लेती और दर्बार करती। बत्तीस बरस की अवस्था में विधवा हुई थी, उन्नासी बरस की अवस्था में परलोक को सिधारी, पर नियम उस का कभी नहीं टूटा।

हिन्दी साहित्यकारों पर
साहित्य अकादेमी द्वारा सद्यःप्रकाशित विनिबंध

1. **अयोध्या प्रसाद खत्री**
   लेखक : रामनिरंजन परिमलेन्दु
2. **उपेन्द्रनाथ अश्क**
   लेखक : राजेन्द्र टोकी
3. **जैनेन्द्र कुमार**
   लेखक : गोविन्द मिश्र
4. **देवीशंकर अवस्थी**
   लेखक : अरविन्द त्रिपाठी
5. **नरेश मेहता**
   लेखक : प्रभाकर श्रोत्रिय
6. **पंडित श्रीराम शर्मा**
   लेखक : रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'
7. **प्रभाकर माचवे**
   लेखक : राजेन्द्र उपाध्याय
8. **भगवतशरण उपाध्याय**
   लेखक : खगेन्द्र ठाकुर
9. **भूषण**
   लेखक : राजमल वोरा
10. **महामति प्राणनाथ**
    लेखक : रणजीत साहा
11. **शरद जोशी**
    लेखक : रमेश दवे
12. **सुमित्रानंदन पंत (संशोधित संस्करण)**
    लेखक : कृष्णदत्त पालीवाल

राजा शिवप्रसाद 'सितारैहिन्द' (जन्म : 3 फ़रवरी, 1823; निधन : 23 मई 1895) हिन्दी और उर्दू भाषा के प्रारंभिक रचनाकारों में से एक हैं। भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत की शिक्षा व्यवस्था में एक युगप्रवर्तक व्यक्तित्व के रूप में उनकी मान्यता है। उन्होंने न सिर्फ़ हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया और सैकड़ों स्कूल खोले, बल्कि इन स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पाठ्यपुस्तकों को भी तैयार किया। हिन्दी माध्यम के अलावा उर्दू माध्यम में पढ़ाई जानेवाली किताबें भी उन्होंने तैयार कीं। उनकी बनाई दर्जनों पाठ्यपुस्तकों में तीन बहुत लोकप्रिय हुईं—*भूगोलहस्तामलक*, *विद्यांकुर* और *इतिहासतिमिरनाशक*।

'सितारैहिन्द' का हिन्दी गद्य के प्रारंभिक निर्माताओं में प्रमुख स्थान है। उन्होंने विभिन्न शैलियों में प्रभावशाली गद्य लिखा। उनकी भाषा शैली उन्नीसवीं सदी के तमाम हिन्दी लेखकों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा स्वाभाविक, जीवंत, मुहावरेदार एवं प्रवाहपूर्ण है। हिन्दी भाषा-साहित्य के इतिहास लेखन में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का श्रेय तो उन्हें दिया ही जाता है, लेकिन नागरी लिपि को मान्यता दिलवाने में भी उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है।

'सितारैहिन्द' ने स्कूली पाठ्यक्रमों की पुस्तकें तैयार करते समय हिन्दी भाषा को एक मानक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। भाषा का एक ऐसा रूप, जो शिक्षित वर्ग की अभिरुचि के मेल में हो, साथ ही मामूली लोगों की समझ में आ जाए। वे हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएँ मानने को तैयार नहीं थे। वे इन्हें एक-दूसरे के विरोध में खड़ा करके इनके बीच की खाई को बढ़ाना नहीं चाहते थे। उलटे वे इन्हें एक-दूसरे के क़रीब लाना और इनका एक सामान्य रूप विकसित करना चाहते थे। उनके भाषा संबंधी प्रयत्न न केवल गंभीर और महत्त्वपूर्ण थे, वरन् प्रयोगात्मक और साहसिक भी थे। उन्होंने एक ऐसा व्याकरण लिखा, जो हिन्दी और उर्दू, दोनों का था।

इस विनिबंध को प्रखर विचारक और समालोचक **डॉ. वीर भारत तलवार** (जन्म : 20 सितंबर 1947, जमशेदपुर) ने लिखा है। आपने एम.ए. (हिन्दी) और पी-एच.डी. की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। 'सितारैहिन्द' की प्रतिनिधि रचनाओं के संकलन-संपादन के अलावा आपकी प्रकाशित कृतियों में प्रमुख हैं—*किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद*, *राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य*, *हिन्दू नवजागरण की विचारधाराएँ* एवं *रस्साकशी*। संप्रति आप जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र में एसोसिएट प्रोफ़ेसर के पद पर कार्यरत हैं।

ISBN 81-260-2047-4

मूल्य : पच्चीस रुपए